मनोहर सीरीज नं० ४

इलाज

(कहानी-संग्रह)

लेखक

श्री शम्भूरत्न मिश्र, 'मुकुल'

मूल्य चार

प्रकाशक—क्षितीन्द्रमोहन मित्र,
माया कार्यालय,
इलाहाबाद।

मुद्रक—धीरेन्द्रनाथ,
माया प्रेस,
इलाहाबाद।

इलाज

हरीश खाने बैठा ही था कि मुन्नी ने बाहर से दौड़ कर सुनाया—"भैया, कोई आया है, ताँगा खड़ा है।"

हरीश खाते-खाते उठा, हाथ धो, बाहर आया। देख कर विनय को नमस्कार किया। "और पीछे यह कौन ?"

विनय बोला—"अरे, इसे नहीं पहिचाना, चिन्ता है, मेरी बहिन।"

और चिन्ता क्या कहे। साड़ी सँभाल, मुस्करा भर दी। हरीश के नमस्कार का उत्तर दे वह चुप हो गई। फिर विनय हरीश के साथ धीरे धीरे अन्दर पहुँचा। बीनू ने ताँगे से सामान उतार लिया था। हरीश चिन्ता और विनय के आने की ख़ुशी में अपने को भी भूल गया। कमरे में चिन्ता को ठिठकते देख विनय बोला—"अरे, यहाँ किसका डर है ? यह तो अपना घर है। चल, चल, अन्दर चल !" फिर भीतर उसे ढकेलते वह दादी के निकट पहुँचा। झुक कर पैर छुये। दादी ने विनय की पीठ पर हाथ फेरा, बोलीं—"बेटा, ठीक से तो रहे ? बहुत दिन बाद बनारस आये और यह ?"

विनय ज़ोर से हँस पड़ा। बोला—"दादी, इसे नहीं पहिचाना, चिन्ता है, मेरी बहिन, जो आपकी माला उठा कर बाग़ में भाग जाती थी।"

"चिन्ता !"

दादी हँस पड़ीं। फिर बोलीं—"इधर आ बेटी ! तू तो बहुत सयानी हो गई है। हरीश के जनेऊ के समय तो तू केवल आठ साल की थी।" चिन्ता के मस्तक पर हाथ फेरते फिर बोलीं—"याद है, तुझे मेरी ?"

चिन्ता धीरे से हँस दी, जैसे कहना चाहती हो—अरे नहीं।

"घर पर सब लोग अच्छे हैं ?"

"जी, आपकी कृपा से" बोला विनय।

चिन्ता ने नीचे बैठे ही बैठे कहा—"भैया की छुट्टियाँ थीं। आपके यहाँ आने की तैयारी करने लगे तो मैंने —मैं भी चलूँगी।"

दादी स्नेह विगलित हो उठीं। और हरीश तो मानो पागल हो गया हो। विनय और चिन्ता को एकाएक आया देख कर, उसे समझ ही न पड़ता था कि क्या करे। पिछले दिनों उसने उसे वैसे ही लिख दिया था कि यदि हो सके, तो चले आओ। लेकिन यह चिन्ता ! चिन्ता को देख कर क्यों उसका मन सुख से भर जाता है? क्या हो गया है उसे? आख़िर, क्यों उलझाये है चिन्ता? हरीश काँप गया। भीतर से आकर बोला—'विनय, आओ, चाय पियें।'

हरीश विनय को लिये दूसरे कमरे में आया देखा—नौकर चाय का ट्रे रख कर चला गया था।

तभी दादी के साथ चिन्ता भी कमरे में आई। हरीश ने इशारा किया बोला—"बैठिये एक प्याला आप भी !"

चिन्ता कुछ न बोली चुप्पी-चुप्पी कुरसी पर बैठ गई। हरीश ने चाय प्यालियों में ढाली, फिर विनय को देकर बोला—'कब खुलेगा कालेज जनाब का?'

'आप घबरायें नहीं, हम अभी काफ़ी दिन आपके मेहमान रहेंगे।"

विनय की यह बात सुन चिन्ता हँस पड़ी।

एक ओर बैठी दादी बोलीं—"हरीश! पहिचाना इसे?"

हरीश ने चाय का घूँट उतारते हुये कहा—'हाँ, यह तो चिन्ता रानी हैं!"

चिन्ता ने कनखियों से देखा कि हरीश बहुत देर से उसी की ओर देख रहा था। सीधा सादा, सरल हरीश बड़ा भला लगा उसे। चिन्ता की आँखें नीचे झुक गईं। अधरों पर जैसे शरीर का रक्त बिखर गया हो—इतने लाल हो उठे थे वे।

और अभी भीतर से मुन्नी आई चिल्लाती—'भैया, खाना ठण्डा हो गया।"

हरीश जैसे आसमान से नीचे गिरा हो। खाने की याद आ गई उसने कहा—"अब तो विनय बाबू और चिन्ता भी आ गये हैं, साथ ही खाऊँगा।"

मुन्ना चली गई।

बातों-बातों में विनय ने बताया था कि जब से उसने पढ़ने में हरीश का साथ छोड़ा तब से कितनी जल्दी जल्दी दर्जे पास करता चला गया। और तभी तो आज वह एम० ए० का विद्यार्थी है। केवल छः साल में एम० ए० फाइनल का विद्यार्थी। कोई साधारण बात थोड़े ही है। दिन भर पढ़ना, न खेलना न कूदना। असल, इधर उधर घूमनेवाले हरीश का साथ छोड़ देने पर ही तो वह इतना सब कुछ हो पाया है।

विनय ने अनुभव किया कि चिन्ता और दिनों की अपेक्षा आज अधिक प्रसन्न है। सफेद गालों पर हलकी मुस्कान की लालिमा दौड़ आई है, और आँखों में एक विशेष चमक पैदा हो गई है।

और निकट बैठी हुई चिन्ता सचमुच ही आज बहुत प्रसन्न मालूम हो रही थी। उसकी बड़ी बड़ी आँखें बार बार हरीश की आँखों से टकरा जाती थीं। कहीं कुछ न था केवल वह हँस भर देता थी। हरीश निगाह फेर लेता था लजा कर।

कि नौकर फिर आया और बोला—"खाना तैयार है।"

हरीश विनय और चिन्ता को लेकर उठ आया। दादी ने थालियाँ परोसीं।

चिन्ता ने चुपचाप, साथ साथ खाना शुरू किया। खाते खाते विनय बोला—"दादी को क्यों कष्ट दे रहे हो? अब की इलाहाबाद से भाभी को ले आऊँगा, मैं।"

भाभी का नाम सुन कर हरीश ज़ोर से हँस पड़ा, बोला—"अभी क्या होगा भाभी का!"

"भाभी तो आयेंगी ही!" चिन्ता ने धीरे से बात जोड़ी, ठीक वैसे ही, जैसे कोई विद्यार्थी मास्टर के सामने ग़लत उत्तर देने में जल्दी करता है।

विनय और हरीश दोनों हँस पड़े।

× × ×

एक दिन शाम को चिन्ता यों ही निकल पड़ी घूमने। पास ही थोड़ी दूर पर सामने पार्क था। हरी हरी घास बहुत सुन्दर लग रही थी। पानी अभी अभी बरस कर रुका था। फूल की डालों पर से बूँदें चू चू कर नीचे गिर रही थीं, जैसे जगत् नियन्ता ने स्वयं अपने हाथों मोतियों के वृक्ष लगा दिये हों, और जो अब हवा के हलके झोंकों में नीचे गिर रहे हों। आसमान साफ़ हो चला था। सारा वातावरण मन को मोह लेनेवाला था। आकाश पर इन्द्र धनुष सतरंगे पत्रों को फैला कर छा गया था। बादल का एकाध टुकड़ा सफ़ेद बर्फ़ के समान इधर उधर हवा में घूम रहा था। चिन्ता की आँखों में प्रकृति की सुषमा ने एक हलचल पैदा कर दी थी। रह-रह कर हरीश की शकल सामने खिंच आती थी। थकी सी वह एक ओर जाकर बेञ्च पर बैठ गई। और तभी हरीश आया, न जाने कहाँ से घूमता फिरता।

आते ही बोला—"अरे, आप!"

चिन्ता चौंक पड़ी।

हरीश को देख उठने की कोशिश की। पर हरीश के मना करने पर फिर बैठ गई। निकट आकर हरीश बोला—"कहिये, आपको बनारस कैसा लगा?"

"जी, बहुत अच्छा लगा है मुझे।" चिन्ता ने उसी भाँति नीचे ताकते हुये उत्तर दिया।

"देखिये न, यह फूल कितने सुन्दर लगते हैं, जैसे बस, बोलना चाहते हों। और यह हरा लाल मखमल का सा!"

"मुझे यह अच्छा लग रहा है।"—अनजाने कह दिया चिन्ता ने

चिन्ता को लगा, हरीश आज बहुत खुश है। एक सप्ताह में कभी भी वह इतने निकट से न बोल पाई थी उससे। कहा— "आज आप बहुत प्रसन्न मालूम होते हैं!"

हरीश हँस दिया। चिन्ता भी हँस पड़ी।

हरीश फूल तोड़ने में जुट गया। चिन्ता वैसे सोचती रही कि यह हरीश भी कैसा है। भैया ने तो कभी भी इनका नाम नहीं बताया था, केवल कहा करते थे कि बनारस में एक दोस्त है। तब क्या इन्हीं का वह ज़िक्र किया करते थे। लेकिन मुझे क्या हो गया है, मेरे हृदय में यह तूफान कैसा उठ रहा है? क्यों हरीश की ओर वह ज़ोरों से खिंच रहा है। पहले तो ऐसा नहीं होता था। हरीश की भावनाओं में इतना उलझ गई चिन्ता कि उसे पता ही न चला कि कब फूल तोड़ते-तोड़ते हरीश उसके पीछे आकर खड़ा हो गया। चौंकी तो वह तब, जब हरीश ज़ोर से हँस पड़ा। चिन्ता ने देखा, पीछे बालों में दो गुलाब के बड़े-बड़े फूल उलझे हुये थे। बाल ठीक करती थोड़ा हँस, वह बोली—"आपने यह क्या किया?"

"मैंने?"

'हाँ। पुजारी पर कहीं भगवान् भी फूल चढ़ाया करते हैं?'

अब हरीश ने सारे फूल चिन्ता पर फेंक दिये, फिर खूब गम्भीर हो कहा—"भगवान् ही यदि अपने पुजारी की पूजा न करेंगे तो और कौन करेगा?

पानी फिर बरसने को आ गया। चारों ओर बादल घने होकर छा गये थे। अँधेरा बढ़ रहा था। चिन्ता उठ कर खड़ी हो गई। हरीश भी चुपचाप चल दिया। रास्ते भर कोई किसी से न बोला। कौन जाने दोनों मूक रहते हुये भी हृदय की सब से स्पष्ट भाषा में कितनी ही महत्वपूर्ण बातों का फैसला कर रहे थे। दोनों के ही दिल धड़क रहे थे जैसे कोई तूफान आनेवाला हो।

"बीनू, चिन्ता बाबी के खाने का प्रबन्ध कर दे।"

"बहुत अच्छा!'

"और देख, विनय बाबू भी आते ही होंगे, उनके लिये भी। और मेरे लिये भी!" बाहर से आते ही हरीश ने कहा।

दादी हँस पड़ीं। फिर कहा— "तेरे ऐसा लापरवाह तो देखने में नहीं आया। घर में आये मेहमान, और तू है जो न जाने कहाँ मारा मारा फिरता है। न खिलाने की फिकर, और न पिलाने की चिन्ता। देख, बेचारी चिन्ता का फूल-सा चेहरा पन्द्रह दिनों में ही कैसा कुम्हला गया है!"

हरीश चौंका।

चिन्ता के दुख की बात थी, सीधे मन में लगी। सच ही तो दादी कह रही हैं। इन दिनों कैसा उसका चेहरा उतर गया है। वह काँप कर भीतर आया। देखा, चिन्ता

अस्त-व्यस्त सोफे पर पड़ी है। दूध के समान सफेद चेहरे पर एकाध लट बिखर आई है, जैसे कहीं से चाँद का एक छोटा सा टुकड़ा किसी ने लाकर रख दिया हो और ओंठों पर कुछ ऐसी लालिमा बिखर गई है, जिससे वह और भी सुन्दर दीखने लगी है। हरीश बड़ा देर तक खड़ा विधि की इस अपूर्व सुन्दरता को निहारता रहा। सहसा दादी ने पुकारा—"चिन्ता !"

चिन्ता की निद्रा टूटी। हड़बड़ा कर उठ बैठी। सामने हरीश को देख, लज्जा से कट गई। साड़ी ठीक कर बोली—"आपको अभी सरला पूछ रही थी।"

"सरला !'

बात हलके दोहराई था हरीश ने। सोचा—सरला क्यों आई थी, जब उसने कहला दिया था कि वह दो-तीन दिनों में स्वयं आवेगा। तब फिर क्या काम पड़ गया उसे? पिता के देहान्त हो जाने पर, अपनी माँ को ले सरला उसी के घर पर आ बसी थी। और हरीश सरला को कब अपने को रोक सका था। खूब खुश लगा था उसे पाकर। भोली भाली अल्हड़ सरला ने मन उसका जीता था। दादी ने कहा था एक दिन—'हरीश! सरला को अपना ले, ऐसी लड़की भाग्य से ही मिलती है।' और देखा हरीश ने भीतर जाती हुई सरला के मुँह पर हलकी हँसी बिखर गई थी। जैसे सरला के समझ में ही न आया हो कुछ, ऐसी वह बन गइ थी। कितना ध्यान रखती थी वह उसका। एक दिन वह ज़रा बीमार पड़ा, तो दूसरे ही दिन सरला को लोगों ने उदास पाया। हरीश ने सिर में दर्द होने की शिकायत की, तो सरला 'यूडीक्लोन' की शीशी ले आई। पट्टी भिगो कर मस्तक पर रखी, आहिस्ता से बिस्तर के अति निकट आकर बोला—'ओफ़, आप दर्द की शिकायत करते हैं। भला, आपको दर्द न होगा, तो क्या मुझे होगा!" फिर बिस्तर पर से किताबें सर काती बोली— जब अच्छे हो जाइयेगा, तब पढ़ियेगा!"

सरला ने किताबें उठा कर आलमारी में रख दीं।

हरीश उसकी ओर देख, केवल हँस भर दिया था।

चार दिन बाद वह आफिस जाने की तैयारी करने लगा, तो देखा—सरला सीधे तन कर दरवाज़ा रोके खड़ी है। अधिकारपूर्ण स्वर में बोली थी वह—"आप नहीं आप आफिस जायँगे।"

'क्यों?"

"सरला का हुक्म है। देखिये न, अभी आप कितने कमज़ोर हैं! कल ही तो बुखार टूटा है। ज़रा भी फ़िकर नहीं करते आप अपने स्वास्थ्य की। यदि कहीं कुछ हो जाये, तो "

आगे सरला की आँखें भर आई थीं। उन बड़ी बड़ी, काली काली आँखों की वह अवहेलना करे भी तो कैसे ? जैसे बरसात उमड़ आई हो ऐसा हो गई थीं वे आँखें। हरीश थक कर बैठ गया कुरसी पर। वह क्या करे, कैसे कहे सरला से कि आज आफ़िस जाना ज़रूरी है। हरीश को बैग देख कर निकट दौड़ आई थी, फिर कोट उतार खूँटी पर टाँग दिया था उसने। चारपाई बिछा कर वह बोली—'अभी आप आराम कीजिये, मैं आती हूँ।'

इस सरला के सामने हरीश हार गया है। सरला ने अपने अनुरागकी एक गहरी, स्पष्ट रेखा खींच दी थी हरीश के मन पर।

दो महीने बाद सरला के एक निकट सम्बन्धी आकर, हरीश और दादी के अत्यधिक मना करने पर भी उसे अपने यहाँ ले गये। वह महाशय किसी स्कूल में अध्यापक थे। शहर में ही दूसरा मकान ले रखा था। एक धुँधली सन्ध्या में सरला जब दादा के पैर छूकर अपनी माँ के साथ विदा होने लगी, तो हरीश कमरे में बैठा न रह सका था। दूर बहुत दूर एक स्वप्न सी विलीन होती सरला को उसने हाले बिलखते खिड़की के सीखचों के उस पार, जहाँ दुनिया का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक चल फिर सकता था जाते देखा था।

चिन्ता को वैसे ही खड़े देख, अब हरीश चौंका, अपने में आया। सरला का विचार भंग हो गया, फटे हुये बादलों के सफ़ेद गोलों की भाँति भावनाओं के थपेड़ों से बहुत दूर उड़ गया जैसे !

और चिन्ता !

भारी, उदास, गहरे अन्धकार से पूर्ण मन लिये चिन्ता कमरे से निकल गई थी। सोचती—यह सरला कौन है ? हरीश के मानस-तट पर क्या उसने भी कभी अपना नन्हा सा घोंसला बनाने का इरादा किया था ? क्यों हरीश उसको विचार धाराओं में आया ? तभी मन में एक छोटा, बहुत छोटा बुलबुला उठा और सरला के नाम के साथ हरीश के मन के निकट पहुँच फूट गया। चिन्ता चकित विस्मित, गम्भीर थी। जो आँधी अनायास सरला उठा लाई थी, उसे कैसे हटाये चिन्ता ? चिन्ता ठिठक गई, कुरसी का सहारा लिया। गिरते गिरते बची !

"क्या हो गया चिन्ता ?' पूछा हरीश ने।

कुछ नहीं, यों ही चक्कर सा आ गया, तबीयत ठीक नहीं है।"

हरीश दौड़ कर निकट पहुँचा, बोला—"डाक्टर को बुलाऊँ ?

चिन्ता ने कमरे की कड़ियों की ओर देखते हुये कहा—'डाक्टर मेरा इलाज नहीं करेगा !'

हरीश आश्चर्य चकित रह गया। बोला—"तुम क्या कहती हो, चिन्ता ?'

चिन्ता चुप रही। क्या कहे वह ? कैसे कहे, दिल में दर्द पैदा हो गया था। बोली—"डाक्टर मेरा मर्ज़ नहीं पहिचानेगा।"

हरीश चिल्लाया—"चिन्ता !"

और अब चिन्ता ने व्यथा से मुँह दूसरी ओर फेर लिया था। आँखें उसकी भर आई थीं, बरसात उमड़ आई था, जैसे अब रोई—अब रोई।

"हरीश भैया !" मुन्नी आ गई थी, बात टूट गई। वह बोला—"विनय भैया बुलाते हैं।"

हरीश चिन्ता को छोड़ दूसरे कमरे में आया। देखा, विनय सामान बाँध रहा है। देखते ही बोला—"यह तैयारी कहाँ की हो रही है, भाई ?"

विनय हँस दिया, बोला—"अब तो छुट्टी खत्म हो गई !"

"ओह, तो यह कहिये कि जनाब तैयारी कर रहे हैं जाने की।"

विनय ज़ोर से हँस पड़ा—इतने ज़ोर से कि भीतर बैठी बिल्ली चौंक कर बाहर भागी, और झपट कर दूर निकल गई। एक ओर से दादी बोलीं—"मैं तो रोकते रोकते थक गई। कहती हूँ तार ही दे आओ।"

हरीश ने दादी का सहारा पाया, निकट पहुँच, विनय का बिस्तर खोलते हुये बोला—"चलो भाई, तार दे आवें, अभी आये हो। कम से कम पन्द्रह दिन तो और रुको।"

अन्दर नज़र गई। चिन्ता ने हँस कर मुँह फेर लिया था। पोस्ट आफिस से जब वह लौटा, तो देखा, चिन्ता ने साड़ी बदल ली थी। हलके नीले रंग का कामदार ब्लाउज़ और पैरों में चप्पल, बहुत सलोनी लगी चिन्ता। हरीश ने देखते ही पूछा—"शहर चलियेगा ?"

चिन्ता हँस कर अन्दर भाग गई, कहती—"भैया से पूछिये, मैं क्या बताऊँ ?"

आखिर शहर का प्रोग्राम बन गया। चिन्ता ने कहा, उसे साड़ी लेनी है। विनय भी बोला—"उसे घड़ी का फ़ीता बदलवाना है।"

ताँगा आ गया था। हरीश विनय और चिन्ता के साथ चल दिया शहर की ओर। रास्ते भर हरीश विनय से घुल घुल कर बातें करता रहा। जैसे बस, आज के बाद विनय मिलेगा ही नहीं। बातें करते करते हरीश कनखियों से चिन्ता को देख लेता, चिन्ता हँस कर नीचे देखने लगती, ऐसा उसे कुछ भी मालूम नहीं है।

शहर आ रहा था, दूकानें शुरू हो गईं।

हरीश ताँगा खड़ा कर, विनय और चिन्ता के साथ उतर पड़ा। एक कपड़े की दूकान पर चिन्ता खड़ी हो गई। साड़ी लेनी थी, दूकानदार ने साड़ियों का

देर लगाना शुरू किया। चिन्ता बारी बारी से साड़ियाँ देखती जाती थी बीच बीच में हरीश की ओर देख, साड़ी अपने बिल्कुल सामने कर—जैसे पहिने हो, बहुत धीमे स्वर में पूछ भी लेती—'कैसी लगती हूँ!' और हरीश के 'बहुत सुन्दर' कह देने पर एक विचित्र गुदगुदी दौड़ जाती उसके दिल में, आँखें चमक उठतीं, और मुर्ख ऐसी हो जाती, जैसे पके सेब! तभी किसी ने पुकारा—'हरीश!'

हरीश चौंक पड़ा। यहाँ कौन परिचित है, जो उसका नाम लेकर बुला रहा है? किन्तु स्वर कुछ पहिचाना सा लगा। और तभी खड़ी हो गई भाव से आकर एक भोली भाली अल्हड़ युवती। हरीश ने सकुचित होकर कहा—"अरे सरला—तुम!"

सरला खिलखिला कर हँस पड़ी। बोली—"माँ के साथ आई थी चप्पल लेने। आपको देखा" फिर चिन्ता का हाथ पकड़ कहा—'अरे, चिन्ता आप भी !"

चिन्ता ने केवल मुँह फेर कर कहा—'हाँ!

मन उसका बैठा जा रहा था। एकाएक जो आग सरला लेकर आ पहुँची थी, वह अब जल रही थी—ऐसी, जिसमें चिन्ता की दुनिया ही खाक हुई जा रही थी, जैसे यदि उसके पंख होते, तो एक पक्षी की तरह वह फुर से उड़ कर इस आग से बच जाती। घना अँधेरा छा गया था—जैसे रात हो हो गई हो। गिरते गिरते कई जगह बची चिन्ता, आँखें उसकी भर आई थीं।

सरला ने हरीश के बिलकुल निकट पहुँच कर उसे छूकर कहा—"आप रुकें, मैं अभी आती हूँ! माँ से कह दूँ, वह प्रतीक्षा कर रही होंगी, तब चलूँ!"

और इसके पहिले कि हरीश कुछ बोले—सरला भाग कर भीड़ में खो गई। जब निकली, तब पाया इन्तज़ार करते उसी स्थान पर हरीश को ताँगे में बैठे, विनय और चिन्ता के साथ। प्रसन्नता से उसका मन नाच उठा। कितने दिनों के बाद उसने इतने समीप से देखा है हरीश को! सरला चुपचाप चिन्ता के निकट पिछली सीट पर बैठ गई। ताँगा चल दिया।

और चिन्ता का विचित्र हाल था। मुँह उसका एकदम सफेद हो गया था जैसे बर्फ का एक छोटा टुकड़ा हो। यह देख हरीश ने पूछा— तबीयत क्या ठीक नहीं है चिन्ता ?

'जी, कुछ ऐसा ही सिर में दर्द है!'

सरला चौंकी। हरीश को देखा—और वह तो बराबर चिन्ता की ही ओर देख रहा था। सरला अपने में खो गई थी। मन उसका खूब धुएँ से भर गया था, फिर भी बोली—'दीदी लेट जाइये, आपका सिर दबा दूँ।'

और चिन्ता क्या कहे ? जी करता था कि कहीं दूर—बहुत दूर भाग कर पहुँच जाय। कहाँ उसके हृदय को चैन मिलेगा ? शायद कहीं भी नहीं। मर्ज़ तो बिलकुल उसके निकट सरला का रूप लेकर बैठा था। चिन्ता को चुप देख, मस्तक पर हलके हाथ रख कर सरला बोली—"क्या हो गया है आपको ?"

"मुझे ?"

चिन्ता की घायल, मूक आँखें एक बार ऊपर उठीं, जैसे सरला की नस नस में घुस कर वह उसका भेद ले लेंगी। काँप गई सरला। धीरे से ओंठ काट लिये। उसके बाद रास्ते भर कोई बात नहीं हुई।

ताँगा जब हरीश के दरवाज़े पर पहुँचा तो बहुत देर हो गई थी। घरों में चिराग़ जल चुके थे, और बाहर दरवाज़े पर बैठे कुत्ते किसी आहट को पा बार बार भौंक कर चुप हो जाते थे। ताँगे से उतर कर चिन्ता हरीश, सरला और विनय के साथ अन्दर गई। फिर जल्दी ही खाना खाकर सोने की तैयारियाँ होने लगीं।

और सरला को रात भर नींद नहीं आई। रह रह कर हरीश और चिन्ताकी सलज्ज छाया में धुएँ के समान कुछ आकर आँखों में फुहारें छोड़ जाता था। तो क्या सच हरीश अब ! सरला कैसे सहे ? अब वह उठ कर बैठ गई थी। जी न लगा—दरवाज़ा खोल बाहर आई। पास ही हरी हरी घास पर लहलहाते फूलों से भरे गमलों के निकट आई। आसमान साफ़ हो गया था। चाँद निकल आया था। दूर तक सफ़ेद चाँदनी बिछी थी—शीतल, सुखद। हरीश के कमरे से हलका प्रकाश आ रहा था—लगा, जैसे हरीश कुछ ज़ोर ज़ोर से बोल रहा हो। साहस कर निकट पहुँची। खिड़की खुली थी, देखा हरीश चारपाई पर लेटा था और सामने बैठी थी एक युवती। प्रकाश के उस हलके पुञ्ज में भी सरला ने चिन्ता का वह गोरा, सुडौल चेहरा पहिचान लिया। सरला पाषाणवत् हो गई, वहीं खड़ी रह गई। चक्कर आते आते बचा उसे। दीवार का सहारा न लेती, तो शायद गिर पड़ती। दबे पाँव धीरे—बहुत धीरे अपने कमरे की ओर बढ़ी।

सुबह जब लोगों ने उसे देखा, तो बहुत तेज़ बुख़ार चढ़ आया था। हरीश घबरा गया। क्या हो गया है सरला को। दौड़ा-दौड़ा डाक्टर को लाया। फिर सिरहाने बैठ, मस्तक पर हाथ फेर पूछा स्नेह से—"कैसी तबीअत है सरला ?"

सरला चुप रही।

और बाहर से चिन्ता ने देखा—हरीश सरला के सिरहाने बैठा है। आँखें उसकी सजल हैं और ओंठों पर एक विचित्र प्रकार का भाव फैला है। चिन्ता पाषाणवत्

हो गई हो जैसे, वहीं खड़ी रह गई। चक्कर आने लगे थे। दीवार का सहारा न लेती, तो शायद गिर ही पड़ती। दबे पाँव धीरे—बहुत धीरे बढ़ी वह अपने कमरे की ओर।

दूसरे दिन जब हरीश डाक्टर को लाया, तो लोगों को पता चला कि चित्रा को भी बहुत तेज़ ज्वर हो गया है।

हरीश और चित्रा दोनों ही दवाई खा रहे हैं। रोज डाक्टर बदले जा रहे हैं। उनका कहना है—सरला और चित्रा को कोई गहरा मानसिक धक्का लगा है।

डाक्टर रोज़ आता है। चित्रा और सरला का टेम्परेचर लेकर दीवार पर टँगे चार्टों पर नोट कर देता है। कौन जाने, मन की गरमी भी यह थर्मामीटर नाप सकता है! बहुत दिन हो गए हैं सरला और चित्रा का इलाज इसी प्रकार हो रहा है, अन्तर केवल इतना हुआ है कि डाक्टर बदल दिये गये हैं। न जाने कब तक सरला और चित्रा अच्छी होंगी। अच्छी होंगी भी या नहीं!

इलाज चल रहा है।

अब टेम्परेचर नहीं रहता, किन्तु मन पर एक भारी उदासी को भारी बीमारी डाक्टर बताते हैं।

इलाज अब भी चल रहा है।

आकर। स्पर्श की कोमलता से सौदामिनी चौंक पड़ी थी। फिर हलके टटोल कर बोली थी—"विमो, पुष्पा, सरला!"

और तब एकाएक खिलखिला कर किसी ने उसकी गोद में बैठते हुये कहा—"अरे! नहीं, मैं हूँ शकुन्तला।"

सौदामिनी खिलखिला कर हँस पड़ी।

"तू भी खूब है, भैय्या कहाँ हैं तेरे?"

"वह क्या बाहर से सामान ला रहे हैं?"

शकुन्तला एक घायल पक्षी की भाँति सौदामिनी के सीने से चिपक गई। फिर बोली—"एक भी पत्र नहीं भेजा मुझे, और भैया !"

सौदामिनी ने हँस कर शकुन्तला के गालों पर एक हलकी चपत जड़ दी, वे और भी सुर्ख हो गये।

और तभी भीतर से आ गया—कमल!

शकुन्तला को देख, वह ठिठक गया। गोरा शरीर, इकहरा बदन, पैरों में चप्पल, बड़ी सुन्दर लगी वह! और तभी कमल को देख, उसकी ओर इशारा कर बोली सौदामिनी—"इन्हें जानती हो?"

शकुन्तला चौंकी। अपने प्रति कहे गये वाक्यों की मीमांसा वह क्यों करे? सँभल कर गोद से नीचे उतरते बोली—"नहीं!"

और तब बताया सौदामिनी ने—'यह हैं मिस्टर कमल! आपके भैया के बड़े दोस्त!"

शकुन्तला ने उठ कर निकट पहुँच, धीरे से कहा—"नमस्ते!"

कमल धीरे से मुस्करा दिया।

तभी सौदामिनी बोली—"और एक बात बताऊँ? यह बड़े भारी चित्रकार हैं!"

खड़ी हुई सौदामिनी की ओर देख कर बोली थी शकुन्तला—"तब तो आपको अवश्य हो !'

"चुप!" सौदामिनी नाराज़-सी हो गई थी। बोली—"यह हैं शकुन्तला, मिस्टर कमल! और आप हैं दुष्यन्त। कहीं उन्हीं की भाँति !"

शकुन्तला खूब खिलखिला कर हँस पड़ी थी।

और कमल ने तब शकुन्तला का मुँह लज्जा से लाल होता पाया था। रात खाना खाते बताया था सौदामिनी ने—'शकुन्तला की वह भाभी लगती है। चार दिन हुये, वह अपने घर गई है।"

कीजिये। कल रात ही तो आपकी छाती में भयङ्कर दर्द हुआ था। सुबह खाँसी भी खूब आई थी। जाने कितना वीरानापन छिपाये हैं आप अपने मन में! यदि मैं न आती, तो न जाने कितनी देर तक आप यों ही बैठे रहते।" कहते कहते बाबा ने कमल के दोनों हाथ पकड़ लिये, फिर उन्हें धीरे धीरे अपने गालों से लगाकर बोली— 'देखिये कितने गरम हैं! मैं जो कहती थी, आपको बुखार होगा। चलिये, लेटिये, चल कर!"

कमल ने इनकार न किया। चुपचाप उठ कर बाबा के साथ चल दिया।

रात में बाबा ने सुनाया वह अजित के साथ घूमने गई थी। खिलखिलाता अजित उसे बहुत भला लगा था और वह बात, बाबा का उसे सहारा देने लगा। इसामी के सीने से सब वह बच्चों की भाँति चिपक गई, फिर भी कमल ने अनुभव किया कि रात भर बाबा काँपती रही है।

इस पहाड़ी प्रदेश में कमल को आये छः मास हो गये हैं। इस बीच वह कुछ स्वस्थ हो चला है। यद्यपि खाँसी अब भी कभी कभी ज़ोर पकड़ लेता है। टेम्परेचर भी हो आता है, फिर भी बाबा को अनुभव हुआ, जैसे वह अब पहले की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्य लाभ कर रहा है। किन्तु पहाड़ी जल वायु, डाक्टर की तत्परता और बाबा की देख भाल के साथ भी कभी-कभी कमल के मन में एक हलके से दर्द का अंकुर फूट पड़ता था। तब कई-कई दिन वह बहुत बेचैन रहता था। खाँसी भी बढ़ जाती और सीने में दर्द अधिक होने लगता। शकुन्तला की याद बिखर जाती। वह सत्रह साल की अस्त व्यस्त नारी उसे खूब उलझती लगती तब। मन में लगा—वह नारी अनजाने ही अपना सब कुछ दे गई था एक दिन। और यों ही न जाने किस प्रकार शकुन्तला ने एक दिन उसके मन में पल खोलकर छोग सी उड़ान भर दी थी।

सौदामिनी की बात भी वह कहाँ तक टालता? अपने रिश्ते को वह स्वयं समझती थी—खूब! उस सौदामिनी ने उसके लिये कोई सुख उठा कर नहीं रखा। घूमते फिरते एक हफ्ते के लिये वह उसके घर आ पहुँचा था। एक दिन रात को बड़ी देर से घर आया, तब सौदामिनी ने सवालों की झड़ी लगा दी थी। फिर स्नेह विगलित हो कमल के बिलकुल निकट पहुँच कर थोड़ा सा हँस, उसके सिर के बालों को टीक करते बोली था—'आपको मेरा भी कुछ ख्याल है?'

सौदामिनी की बहुत सी बातें उसके पास जमा हो गई थीं। उस निकट खड़ी सौदामिनी को तब उसने खींच कर बाहों में कस लिया था। और स्नेह तथा आतुरता का सहारा पा, उसकी बड़ी बड़ी आँखें सजल हो आई थीं।

और एक सन्ध्या को सौदामिनी की आँखें किसी ने बन्द कर दी थीं, पीछे से

सारा शरीर सूख कर लकड़ी सा हो गया था। कभी कभी रात में तेज़ प्यास लगती थी। और दिन चारपाई पर लेटे लेटे निकल जाता था। पीछे कई महीने बाद डाक्टरों ने पहाड़ पर ले जाने की सलाह दी। और वीणा को लेकर वह इसीलिये तो यहाँ आया था।

रात वीणा ने अनुभव किया, कमल बराबर पीड़ा से कराहता रहा है। रह-रह एक हलकी, किन्तु तेज़ चीख जैसे अनायास ही निकल पड़ती थी। और सवेरे डाक्टर ने आकर कहा—"वीणा देवी किसी और डाक्टर को भी दिखा लीजिये, तो अच्छा हो।"

"डाक्टर!" वीणा गिरते गिरते बची। समीप के कमरे से अजित ने आकर सँभाला।

और तभी कमल को फिर ज़ोरों से खाँसी आई। बाहर के एक प्रस्त हवा के झोंक ने सहसा प्रवेश कर मेज़ पर फैले उस अधूरे चित्र को उड़ा कर एक ओर गिरा दिया। अजित ने चित्र उठा कर मेज़ पर फिर से जमा दिया। बड़ी देर तक चित्र पर बनी अपूर्ण नारी को वह निरखता रहा। तब अपने निकट भारी दुःख घिरता पाया था उसने। अजित ने देखा, कमल इशारा कर रहा था। वीणा से बोला—"आपको बुला रहे हैं।"

और वीणा ने तब निकट पहुँच कर कमल के मस्तक पर हाथ फेरते हुये कहा—"आप ठीक हो जायँगे स्वामी!"

और उत्तर में कमल फूट-फूट कर रो पड़ा।

शकुन्तला की याद ताज़ी हो गई थी शायद। वीणा ने लेटे हुये स्वामी के सीने में मुँह छिपाते हुये कहा—"आप यह सब क्या कहते हैं, स्वामी?"

लेटे हुये कमल ने अब अनुभव किया कि वह वीणा भी बहुत महँगी पड़ी। फिर उसे हृदय से सटाते बोला— चित्र अधूरा रह गया, वीणा! उसे शकुन्तला को दे देना।"

सहसा बीच में वह रुक गया, बड़े ज़ोर से खाँसी आई थी। वीणा ने चरणों पर सिर रख दिया था। अब वह फूट फूट कर रो रही थी।

और तभी हलके—बहुत हलके सुना वीणा ने—कमल गा रहा था—

घर घर में दिवाली है मेरे घर में अँधेरा!'

वीणा चरणों से और भी ज़ोर से लिपट गई थी, जैसे कहीं वह उठ कर भाग जायगा। फिर उसके दोनों हाथ पकड़ कर बोली—"मेरे देवता! इतना तो न करो!"

किन्तु कमल गाता ही रहा—गाता ही चला गया।

रात भर कमल को नींद नहीं आई। रह रह कर शकुन्तला का अस्पष्ट चित्र आँखों में घूम उठता था। तब क्या वह सौदामिनी को केवल एक सहारा मात्र ही मान ले? कैसा तेज आखिर मचल गई है सौदामिनी उसके निकट! शकुन्तला की बड़ी हरिणी के समान चंचल आँखें उस शून्यता को भंग कर देती थीं। जैसे कहना चाहती हों— मैं क्या जानूँ, और आप मेरे पीछे इतनी बुरी तरह से क्यों पड़े हैं?'

अब कमल ने उठ कर खिड़की खोल दी था। साफ़ चाँदनी का चादर-सी बिछी थी दूर तक। उसी चाँदनी में शकुन्तला का स्वर आभास दे रहा था।

उस एकान्त रात में तमाम कई चिट्ठियाँ उसने लिखीं शकुन्तला को। फिर वे सब व्यर्थ लगीं। फाड़ डाला एक-एक कर उन्हें। अन्त में एक चिट्ठी लिखी भी—

शकुन्तला,

मुझे क्षमा करना! जो मैं तुम एकदम समा गई हो—इतनी कि अब, उसमें तनिक भी स्थान अब शेष नहीं है। चाहता था, चलते समय मिल लेता किन्तु। मेरा याद रखना अच्छा! जैसे मैंने अपना सब कुछ देने में बहाना नहीं किया है। मेरा मलाल मत करना। सौदामिनी ने जो खेल खेला है, इन प्रमाणों के मिलने उसे कैसे भुलाऊँ? मैं इसी रात यहाँ से जा रहा हूँ।

—कमल"

और उसी रात कमल चुपचाप अपना कोट पहिन कर वहाँ से चल दिया था।

चार महीने बाद एक दिन सौदामिनी ने लिखा—

"शकुन्तला को छोड़ कर यों ही चले जाओगे यह सोच कर शकुन्तला फूट-फूट कर रोती है। आखिर क्या था जिसे आपने हम लोगों को बताया भी नहीं? शकुन्तला की शादी की बात चल रही है किन्तु वह बराबर इनकार कर रही है। मेरी इच्छा है कि जब आपने अपने मन को उसके लिये उठा कर नहीं रखा, तब शकुन्तला वहाँ क्यों न स्थान पाये? बहुत दुबली हो गई है वह। आपका नाम बराबर लिया करती है। क्या आप उसे यों ही रहने देंगे? बोलिये, उत्तर दीजिये।"

और पांच एक माह बाद शकुन्तला की चिट्ठी थी—

"सौदामिनी ने जो खेल खेला है मेरे साथ, उसे कैसे भुलाऊँ? आपको ठीक से देख भी न पाई। आपका पत्र पास है। जब मिलियेगा, तब खूब झगड़ा करूँगी। अभी नहीं।"

कमल ने लेटे ही लेटे लैम्प बुझा दिया। फिर तकिये से मुँह छिपा कर फूट-फूट कर रो पड़ा।

अब कमल को खूब खाँसी आने लगी थी। हलका टेम्परेचर भी हो आता था।

"जी, मैं रेखा !"

और हँस कर खिलखिलाती हुई वह भीतर भागी। वह सुन्दर नारी मन बँटाती लगी निर्मल को।

दो दिन बाद निमल के कहने सुनने से माया ने फोटो खिंचवाने की तैयारी की। दोपहर से सब ने खाना खाया। शाम को खान में फोटो खिंचवाने की बात तय हुई। ताँगा मँगाया गया, अन्य लड़कियों के साथ रेखा जा बैठी। अगली सीट पर निर्मल था। लड़कियों के बीच रेखा का वह अस्त-व्यस्त गौर शरीर मन बुझाता लगा। बड़ी सुन्दर दिखाई पड़ी रेखा उसे। जल की शीतल लहर के समान रेखा का सौंदर्य निर्मल के हृदय को छू गया। जैसे किसी ने मन्त्र मुग्ध कर दिया हो, ऐसा हो गया वह। रास्ते में अपनी विवशता समेटे, निर्मल ने कई बार चाहा कि उस निकट बैठी रेखा से बातों का सिलसिला जोड़े; किन्तु चुप ही रही वह।

खान पर पहुँच कर, एक झाड़ी के सामने फोटो का कार्य क्रम बना। तभी याद आया, रेखा कहाँ है? और सच ही तो रेखा वहाँ नहीं थी। विलम्ब हो, तलाश शुरू हुई। खान की सारी झाड़ियाँ देख डाली गईं। नदी का रेतीला किनारा भी ढूँढा गया, किन्तु रेखा न मिली, साथ की लड़कियाँ हैरान थीं कि आख़िर गई कहाँ रेखा!

और तभी निर्मल घूमते-घूमते एक झाड़ी के निकट पहुँचा। हरी-हरी पत्तियों के बीच फूल खिले थे बहुत से। और उनके बीच ठीक फूलों-सी ही रेखा को पाकर वह चौंका, बोला—"आप यहाँ!"

रेखा जैसे लाज से गड़ गई हो। अधरों पर लाली दौड़ आई थी। सँभल कर बोली—"कुछ नहीं, ऐसे ही चली आई थी। सोचा था, आपको क्या हूँ!"

"मुझे!"

रेखा झाड़ी से बाहर आ चुकी थी। साड़ी ठीक कर, नाचे ताकती बोली—"माँ आपका नाम अकसर लिया करती थीं। आप बड़े भावुक और अच्छे हैं!" आगे बात छोटी सी मुस्कान में खो गई।

रेखा की हँसी ने निमल के हृदय पर अधिकार जमाया। जैसे उस शाश्वत रेखा की हँसी में उसका कण-कण खो जायेगा। रेखा की सरल हँसी की छाया में उसे ऐसी नींद प्रतीत हुई, जिसमें प्राणों का कम्पन अपनत्व समेट कर छिप जाना चाहता है। उस जैसी सरल और स्नेह स्निग्ध नारी, उसने कहाँ देखी थी? लापरवाही से साड़ी का एक छोर कन्धे पर डाले, बालों का चोटी का फीता मुँह में दबा कर खड़ी हुई रेखा के चरम सौन्दर्य को निर्मल ने इतने निकट से आज पहली ही बार देखा था। उस अयाचित गतिहीन विवशता का तह में वह कैसे उतरे? चाहा था निर्मल ने कि मन

प्रकाश की खोज

निर्मल ने खिड़की खोल दी। घने फैले हुये दूर तक अन्धकार में वे चमकती बिजली की बत्तियाँ और भी प्रखर हो उठीं। उनके चारों ओर सीमित प्रकाश से बिलकुल लगा हुआ अँधेरा! झल्ला कर निर्मल ने खिड़की बन्द कर दी। अब वह अपने जीवन का मीमांसा कर लेना चाहता था—बस! जीवन, जिसमें नारी प्रकाश लेकर आती है। ठीक उन बाहर की बत्तियों की भाँति जगमगाहट होती है उस जीवन में। कितना अन्धकार दूर करता है वह प्रकाश! किन्तु प्रकाश के समीप ही अँधेरा — निर्मल सोते से जागा हो जैसे। अन्धकार की बात देर तक मन को उलझाती रही। तब प्रकाश का महत्व क्या धोखा मात्र है! बहुत बहुत सी बातें आकर निर्मल के सामने फैलने लगीं। उसकी चलती फिरती दुनिया में अनेक स्मृतियाँ पथ लगा कर न जाने कहाँ से आ गई थीं। और तभी निर्मल के मन को जैसे किसी घने अन्धकार ने छू लिया हो! रेखा जैसे सामने बिखर गई खिली खिली। विचारों का बाँध टूट गया था। तब क्या था कि किसी दिन यौवन में सिकुड़ती लाज से गड़ती इस रेखा के समीप ही अन्धकार है। कालेज की चहारदीवारी में बैठे-बैठे अनायास ही उसका नाम मन में घुलने लगा था। निर्मल ने कोई बहाना नहीं बनाया उसके सामने।

यह नाम बार-बार पास बिखरता दो काली काली बड़ी भोली आँखों की रचना करता-सा लगा निर्मल को। माँ के मुँह से सुना हुआ नाम, सब पानी की तरह उसके रोम रोम में बहने लगा, तब कहीं निर्मल को इसका ज्ञान हुआ। और एक दिन इसी ज्ञान से प्रेरित होकर उसने अन्य सम्बन्धियों के मना करने पर भी न जाने क्यों रेखा को अपना जीवन सौंप देने का निश्चय कर लिया।

छुट्टियाँ हुईं, तो वह मामा के घर आया था। सोचा, चलो, दस पाँच दिन वहीं रह जाय। एक सवेरे सोकर उठा कि बरामदा पार करते उस झिलमिल प्रकाश में एक हलका सा धक्का लगा। तभी जैसे किसी ने कहा—"ओफ़! आप हैं, माफ़ कीजियेगा।"

अनायास स्पर्श की उस सिहरन से निर्मल का मन डूब गया, बोला झटपट—"आप कौन हैं?"

भारी खिलखिलाहट से चौंका था निर्मल। सँभल कर बोला—"चलिये, ज़रा यों ही आ गया था। सोचा था क्या दूँ आपको?"

रेखा पर बात कही गई थी। खूब लगी उसे। अपने से वह बाहर गई क्यों? नारी की मर्यादा उसने तोड़ी है, बहुत बहुत शरमा गई वह।

और फोटो के लिये लान के बीच में खड़ी अन्य लड़कियों के साथ रेखा ने हाथ उठाया—जैसे कहना भर चाहता हो कि रुको जी, मेरा फोटो मत लो; किन्तु निर्मल ने स्विच दबा दिया। फोटो खिंच गया था।

घर लौटते समय काफ़ी देर हो गई थी। घना अँधेरा छा गया था। चारों ओर गहरी कालिमा छाने लगी थी। देर हो जाने से ताँगा भी नहीं मिला। विवश हो पैदल ही चलने का निश्चय हुआ। नदी का रेतीला किनारा, नीचे बड़ी बड़ी घास, सुनसान वातावरण, अँधेरे से ढँका रास्ता। रेखा पीछे छूट गई थी। एकान्त था, निर्मल ने कहा—"मेरा हाथ पकड़ लीजिये, कहीं ठोकर न खा जाय।"

और रेखा ने इनकार नहीं किया। चुपचाप आगे बढ़ते निर्मल के बलिष्ठ हाथ को थाम लिया। फिर बहुत निकट आ, बोली—"देखिये, आपने मेरा हाथ पकड़ा है, कहीं फिर धोखा "

और उत्तर में रेखा ने पाया कि निर्मल ने और भी ज़ोर से उसका हाथ दबाया था। किन्तु फिर किसी अज्ञात आशंका से तुरन्त ही चौंक कर बोला—"मैं तो तुम्हारा हूँ, रेखा!"

यह सुन, रेखा ने उस आगे बढ़ते हुये निर्मल से सट जाना चाहा। हृदय उसका वेग से धड़क रहा था, सारा शरीर पसीने से तर था, वह चुप रही। लड़कियाँ निकट आ गई थीं। आगे बढ़ गई रेखा और उन्हीं में खो गई।

और एक दोपहर को रेखा के भाई ने एक चिट लाकर दी। निर्मल ने लिखावट पहिचानी, रेखा ने भेजा था, लिखा था—

"मुझे माफ़ कीजियेगा। कल की बात मन में खूब लज्जा भर लाती है। रात भर नींद नहीं आई। आपकी याद क्यों इतनी आई, समझ में नहीं आ रहा है। फिर भी मन हलका हलका है। हाँ! सच, उसमें कहीं भी भारीपन शेष नहीं है। जैसे जो बोझा था, उसे आपने उतार लिया हो। माँ की इच्छा है कि आप मुझे अपनी ! क्या आप मुझे स्थान न देंगे—लिखिये?"

निर्मल ने पत्र मोड़ कर जेब में रख लिया। फिर सिगरेट जला कर विचारों में डूब गया, सोचा, आ ख़र क्या पहेली-सी बनी रहेंगी ये सब बातें? और रेखा ही उसे क्यों उलझाये है। अपना जीवन किसी पुरुष की छाया के नीचे सुला देने की जो

का कोई कोना खाली न रह जाये। आँखों के मध्य उतर कर रेखा ठीक हृदय में प्रवेश करती-सी लगी। तभी चाकू हाथों में फूल देख, निर्मल ने पूछा—''और ये फूल ?'

थोड़ी पकड़ी गई थी। रेखा शरमा गई। फिर फूलों से भरी टूटी डाल का एक सिरा दाँतों में दबाती, थोड़ा हँस कर बोली—'मेरी भेंट स्वीकार करेंगे आप ?"

"भेंट ?'

"डर लगता है, कहीं आप इनकार न कर दें।"

"रेखा !'

"नहीं, पहले वचन दीजिये।"

"रेखा, मैं...।'

बात काट रेखा ने, कहा—'कितने सुन्दर हैं ये फूल ! इन्हें सहेज कर रखियेगा। कहीं आपकी लापरवाही से...।'

निर्मल हँस पड़ा।

कहा रेखा ने आगे—"पुरुष लापरवाह होते हैं। किसी चीज़ को नष्ट करते उन्हें दुःख नहीं होता। अपना मन बहलाना भर जानते हैं वे। जैसे दुनिया का सारा नाश प्रकृति मिट्टी की ही बना है।"

फिर चुपचाप खड़े निर्मल की आँखों में ताक नीचे झुक कर, फूलों को पैरों के निकट रख, बोली—'इन्हें चरणों में स्थान दीजियेगा ! अच्छा !''

और फिर हँसी बिखरा कर भागी थी रेखा।

बड़ी देर तक निर्मल रेखा के बारे में सोचता रहा। आख़िर रेखा चाहती क्या है ? कैसा खेल शुरू किया है उसने ? बहुत गम्भीर लगी रेखा निर्मल को। और अब जैसे रेखा की हँसी उसे दूर सुनाई पड़ रही हो। रेखा कहने लगी—'मैं तुम्हें...!'

निर्मल ने विवश हो आँखें बन्द कर लीं। रेखा फिर निकट थी, जैसे धूप सज सँवर कर आई हो। इस रेखा को वह कहाँ रखे उठा कर ? ऊब कर आँखें खोल दीं। रेखा का विचार टूट गया।

भ्रम था—केवल भ्रम !

डाल से फूल तोड़, जेब में रखे। बड़े सुन्दर लगे ये फूल कि देखा, पीछे अन्य लड़कियों के साथ रेखा थी। उन्होंने कहा—"ख़ूब ! आप यहाँ हैं और हम सब आप प्रतीक्षा करें...।"

एक सप्ताह हो गया है। इस बीच में रेखा को उसने खूब निकट से देखने की चेष्टा की थी। खूब समझ लेने की बात अब मन में शेष न थी। रेखा ने निर्मल के हृदय को अपनी मुस्कानों से भर दिया था। आखिर प्रतिपल निकट आती उस सुन्दर नारी की अवहेलना भी वह कैसे करता? तितली-सी उस रेखा नारी ने निर्मल के चारों ओर दब दब कर एक दायरा खींच दिया था। निर्मल सोचता, रेखा क्या है—नारी, वरदान, यातना अथवा निरी अनबूझ पहेली? क्या स्त्री की पुरुष के प्रति यही माँग है? और कभी निर्मल पुरा के बारे में उलझ जाता। तब कई कई सिगरेटें फूँक डालने पर भी वह रेखा के समझने के सवाल को हल नहीं कर पाता। विचार अधिकाधिक घेर लेते। उस ऊपर उठते हुये धुएँ के गोलों में तब सब कुछ खोता सा लगता उसे।

(२)

तीन साल हो गये। इस बीच रेखा ने आकर निर्मल की गृहस्थी सचमुच सँभाल ली थी। नारी रेखा पुरुष निर्मल के निकट मन सौंप चुकी थी और पाया था एक अपनाव, थोड़ा सा स्नेह और जिज्ञासा-मात्र कर लेने योग्य सुख।

निर्मल अब डाक्टर हो गया था। अस्पताल की भीड़ में दिन बीत जाता। रात में रेखा गम्भीर भाव से मिलती, उलझनों से मन भर देती, कहती—"जल्दी आ जाया कीजिये, मुझे डर लगता है कितनी अँधेरी रातें हैं!" और तब निर्मल उस निकट लेटी रेखा को थपथपा कर समझाता और अपनी सफ़ाई पेश कर लेने के बाद कहीं कुछ हलका हो पाता।

रेखा चुप हो जाती। चाहती ऐसे ही वह चुप रहे।

एक दिन शाम को एक केस आया। ऑपरेशन-थियेटर में मेज़ पर लेटी हुई थी एक नारी। मुँह बिलकुल पीला हो गया था। जैसे शरीर का बूँद बूँद खून निकाल लिया हो किसी ने। पीछे पता चला, दो दिन हुये हैं बच्चा हुये। निर्मल ने आगे बढ़ कर्तव्य निभा, स्टेथसकोप उसकी छाती पर रख दिया। नारी धड़कन थी। मन भर आया था उसका। तब लेटी नारी बड़ी निस्सहाय लगी। निर्मल ने सोचा, कितनी विवशता लेकर नारी आती है। और क्या कुत्ते बिल्लियों की भाँति ही इनका जीवन घुट घुट कर समाप्त होने के लिये है? मातृत्व की इस देन ने वेदना का अधकार निर्मल के मन में फैला दिया था। वह अब फैलता सा लगा, मानो निर्मल के सारे शरीर में वह फैल कर उसके प्राण ले लेगा। स्टेथसकोप के स्पर्श से चौंक कर आँखें खोलीं। उन सफेद प्रतिपल मुरझाती हुई आँखों के मध्य उसे जैसे रेखा दिखाई पड़ी। और रेखा भी तो नारी है, ठीक इसी तरह। तब तब? जैसे विवश हो, वे आँखें मींच ही रहना चाहती हों। बताया सम्बन्धियों ने सबेरे से बोल बन्द है। सारा

अतृप्त प्यास रेखा लिये फिरती है, उसे वह कहाँ मिटा पाया था ! निमल अपने में आया। रेखा का विचार पीछे छूट गया। सामने पुष्पा थी—रेखा की बड़ी बहिन। तश्तरी में रख कर मिठाई लाई थी जलपान के लिये। निर्मल ने उठ कर नमस्ते किया। पुष्पा ने मिठाई की तश्तरी मेज़ पर रखवाते हुये कहा—"मैं तो भूल ही गई थी। यह कहिये, रेखा ने याद दिला दी। माफ़ कीजियेगा।"

निमल स्तब्ध रह गया।

इस बीस साल की युवती पुष्पा को वह कैसे समझे ? बहुत गम्भीर रहती है यह ! बातों का सिलसिला थोड़ा-सा जमाना भर जानती है, बस ! पुष्पा को कुछ पद अर्थ का मन हो आया उसके। निर्धनता सारी का और दिखता पुष्पा का यह अनागत शरीर बड़ा मोहक लगा उसे। कितनी लापरवाह है यह ! और क्या अदृश्य विवाह के प्रथम ही परवाह माल का बोझ अपने पास रखती है ! दूसरों को या, अपने को और, यह पुष्पा जो जैसे निश्चिन्त हो उठी हो।

फिर पास बैठे हुये निर्मल को घूर कर उसने कहा—"कहिये, क्या लाऊँ ?"

निर्मल मुस्करा उठ पड़ा। शिष्टाचार के नाते बोला—"इसकी क्या आवश्यकता थी ?"

पुष्पा हँस पड़ी बोली—"अभी नहीं, अपने हो जाइयेगा, तब !"

"और आप ?"

"मैं ?"

निर्मल ने मिठाई उठा कर मुँह में रखी। तभी पुष्पा बोली—"फिर नहीं पूछा आपने ?"

निर्मल को अपनी भूल की याद आई, बोला—"मालूम था, आप नहीं खायेंगी ?"

"ख़ैर ! तो आप ज्योतिष का भी ज्ञान रखते हैं ! तब तो रेखा के सारे जीवन से परिचित होंगे आप !" फिर मिठाई का एक टुकड़ा उठा कर मुँह में डालती, वह बोली—"एक बात तो माननी पड़ेगी आपको !"

"कौन-सी ?"

"ओह ! आप जैसे जानते ही नहीं !"

पुष्पा रुक कर लाल हो गई थी। धीरे से हँस कर कहा—"हम लोग बहुत छोटे हैं। आपको कुछ दे नहीं पायेंगे, फिर भी जी करता है कि ?"

निमल चुप रहा। पुष्पा कहती ही रही—"रेखा को तो जानते ही हैं आप !"

हँस कर पुष्पा अन्दर भाग गई।

और बाहर का घना अन्धकार ? बिजली को हलकी बत्तियों के नीचे वह प्रकाश जैसे कह रहा था—'मैं—मुझे खो। मैं तो तुम्हारे ही अन्दर हूँ।' ऊब कर निर्मल ने खिड़की खोल दी। खूब-खूब बुखार चढ़ आया था उसे। भारी प्यास लगी थी, नीचे उतर कर, मन भर कर ठण्डा पानी पी लिया था उसने।

तभी हवा के एक झोंके से कमरे में जलता दीपक बुझ गया।

गहरा अँधेरा फैल गया था वहाँ।

और निर्मल की आँखों में वह अँधेरा था, जिसमें दो नारियों का स्नेह अपना मृत शरीर गाड़ गया था।

रेखा जैसे आँखों में आई हो, और वह केस ?

निर्मल ने पुकारा—"रेखा !"

ध्वनि टकरा कर लौट आई।

जैसे वह पागल हो, चारपाई से उठा, बाहर के अन्धकार का जैसे वह पता लगा लेगा आज। आखिर क्यों यह अँधेरा मन को घेरे है ? और मौत ? मौत क्या है ? क्या अँधेरा ही तो मौत बन कर नहीं आता ?

निर्मल दरवाज़ा खोल कर बाहर सड़क पर आ गया था। जो प्रकाश उसके मन से रेखा छीन ले गई थी, उसे खोजने वह दौड़ा चला जा रहा था। पानी बरसने-बरसने को था। बादल खूब घिर आये थे। घना अँधेरा छा गया था—ठीक वैसा ही, जैसा निर्मल के मन में था। उस सघन और गहन बढ़ती हुई अँधियारी में निर्मल ज़िन्दगी का प्रकाश खोजने निकल पड़ा। कौन जाने, उस प्रकाश की खोज उसने कर ली है अब तक अथवा नहीं।

"लेकिन मिस्टर निर्मल, शाम से ही बोलना बन्द है। 'डिलेरियम' हो गया है! इन्जेक्शन दे दिया है। अच्छा हुआ आप आ गये। टम्परेचर नोट कीजियेगा। मैं सवेरे आऊँगा। अच्छा, नमस्ते!" कह कर डाक्टर एक ओर बढ़ गया।

निर्मल का हृदय धड़क रहा था, जैसे बस अब आख़िरी बार धड़क कर बन्द हो जायगा। कमरे के बीच एक साफ़ पलंग पर रेखा लेटी थी। बिजली के उस शुभ्र प्रकाश में उसका शरीर बड़ा सुन्दर लगा उसे जैसे वह अभी अभी मुरझा कर सोई हो।

देख कर निर्मल का सारा शरीर काँप गया।

माँ ने बताया था—"चार दिन पहले तक ठीक थी। रात पेट में ज़ोर का दर्द हुआ और सवेरे लड़का पैदा हुई!"

निर्मल खड़ा न रह सका। माँ का आँचल पकड़ धम् से बैठ गया। रेखा का स्नेह आँखों से बह कर आने लगा था। अपने पर खूब क्रोध आया उसे। आख़िर उसी ने तो रेखा को मारने के लिये फाँसी तैयार की थी! निर्मल ने आज पहली बार अनुभव किया था कि रेखा का अभाव वह सह न सकेगा।

बहुत रात तक निर्मल की हिचकियाँ चलती रहीं और रेखा की हालत ख़राब होती गई।

सवेरे डाक्टर ने आकर दवा 'प्रिसक्राइब' की। निर्मल ने 'डाइगनोसिस' में योग दिया। दोपहर तक हालत और बिगड़ने लगी। बार-बार शरीर ऐंठ जाता था, मुँह एकदम बन्द हो गया और एक अस्फुट, किन्तु ज़ोर का स्वर चालू हो गया था। निर्मल दौड़ कर डाक्टर को लाने गया। लौटा तो घर में क्रन्दन सुनाई पड़ा। कहीं कुछ बाध न था, जैसे कोई पंछी अपने पिंजरे को तोड़ कर उड़ गया हो।

निर्मल बाहर का दरवाज़ा पकड़ कर वहीं बैठ गया। अन्दर आदमियों की भीड़ बढ़ रही थी। सर्वनाश हो चुका था।

(४)

अब वह अन्धकार निर्मल के मन में फैलता-सा लगा। उसके बीच रेखा का असहाय शरीर अब भी वैसा ही लेटा दिखाई पड़ रहा था—भारी भ्रम निर्मल को घेरे था। प्रतिपल वह अन्धकार गाढ़ा ही होता जा रहा था।

तीन दिन हुये हैं, वह हरद्वार से लौटा है। कहीं कुछ हलकापन नहीं है, जो मन बँटा ले। निकट रेखा की याद भर शेष है—गहरी गहरी! एक धुँधली सन्ध्या को तारों भरे नीले आकाश के नीचे खड़े होकर 'ब्रह्मकुण्ड' में उसने निकट की दीप मालिकाओं की जगमगाहट में कल-कल करती माँ गंगा की तरल धार में रेखा के शरीर की अस्थियाँ प्रवाहित कीं और पहली ही ट्रेन से छोड़ दिया वह नगर। जीवन अँधेरा छा गया। रेखा ने अपना प्रकाश समेट लिया था।

और बाहर का घना अन्धकार ? बिजली की हल्की बत्तियों के नीचे वह प्रकाश जैसे कह रहा था—'मैं—मुझे लो। मैं तो तुम्हारे ही अन्दर हूँ।' ऊब कर निर्मल ने खिड़की खोल दी। खूब-खूब बुखार चढ़ आया था उसे। भारी प्यास लगी थी, नीचे उतर कर, मन भर कर ठण्डा पानी पी लिया था उसने।

तभी हवा के एक झोंके से कमरे में जलता दीपक बुझ गया।

गहरा अँधेरा फैल गया था वहाँ।

और निर्मल की आँखों में वह अँधेरा था, जिसमें दो नारियों का स्नेह अपना मृत शरीर गाड़ गया था।

रेखा जैसे आँखों में आई हो, और वह केस !

निर्मल ने पुकारा—"रेखा !"

ध्वनि टकरा कर लौट आई।

जैसे वह पागल हो, चारपाई से उठा, बाहर के अन्धकार का जैसे वह पता लगा लेगा आज। आखिर क्यों यह अँधेरा मन को घेर है ! और मौत ? मौत क्या है ? क्या अँधेरा ही तो मौत बन कर नहीं आता ?

निर्मल दरवाज़ा खोल कर बाहर सड़क पर आ गया था। जो प्रकाश उसके मन से रेखा छीन ले गई थी, उसे खोजने वह दौड़ा चला जा रहा था। पानी बरसने-बरसने को था। बादल खूब घिर आये थे। घना अँधेरा छा गया था—ठीक वैसा ही, जैसा निर्मल के मन में था। उस सघन और गहन बढ़ती हुई अँधियारी में निर्मल ज़िन्दगी का प्रकाश खोजने निकल पड़ा। कौन जाने, उस प्रकाश की खोज उसने कर ली है अब तक अथवा नहीं।

विवाह का संदेशा

विमला नरेन्द्र के जीवन में एक तूफ़ान की भाँति आई। शहर में नरेन्द्र के चाचा रहते हैं। उन्हीं के घर पर रह, उसने यूनीवर्सिटी की डिगरियाँ ली हैं। पड़ोस की स्त्रियाँ एक दिन उनके यहाँ आईं; उन्हीं में विमला भी थी। तभी न जाने क्यों अनजाने नरेन्द्र को विमला बहुत अच्छी लगी। नरेन्द्र ने अनेक लड़कियों को देखा था, किन्तु विमला की रूप माधुरी ने उसे विचित्र ही सुख और सन्ताप दिया। और एक दिन जब विमला के पिता ने नरेन्द्र के चाचा से विमला को एक घण्टा पढ़ा देने के लिये नरेन्द्र को कहा, तो नरेन्द्र को आश्चर्य नहीं हुआ।

पहले ही दिन विमला उसे विचित्र लगी। इतनी वाक्‌पटु और कुशाग्र लड़की तो उसने जीवन में नहीं देखी। अकेली सन्तान होने के कारण विमला पन्द्रह सोलह साल में ही पूर्ण युवती लगने लगी थी। विमला के पिता शहर के प्रमुख वकीलों में थे। नरेन्द्र पर शुरू से ही उनकी श्रद्धा थी।

उस दिन विमला ने कुछ पढ़ा नहीं। अनेक प्रश्न पूछे गये—मास्टर साहब का क्या नाम है, घर कहाँ है, कितनी बहिनें और भाई हैं, मास्टर साहब ने बी० ए० में क्या ले रक्खा था?

नरेन्द्र इसका क्या उत्तर दे। आखिर इतने सारे प्रश्नों का वह उत्तर दे भी तो कैसे? जिज्ञासा की उस आँधी के सामने, जिसमें विमला बही जा रही थी, नरेन्द्र थका सा रह गया; फिर बोला—"आप पढ़ें भी!"

"वाह! नाम तो आपको बताना ही पड़ेगा!"

नरेन्द्र कट गया।

अधिकार की गतिमान सतह में विमला एक चपल मृगी के समान धरती पर चलती सी लगी। नरेन्द्र के मन में एक तूफ़ान उठ रहा था। वह विमला से झगड़ा कैसे मोल ले? तभी नौकर ने आकर कहा—"माँजी बुलाती हैं।"

विमला अन्दर गई और फिर न आई। उस दिन की पढ़ाई वहीं रुक गई।

घर आकर नरेन्द्र ने अपने अन्दर एक अनोखी बेचैनी और आतुरता का अनुभव किया। रह रह कर विमला की कातर मूक, भावनापूर्ण आँखें नरेन्द्र के सामने नाचने

लगतीं । नरेन्द्र सोचता, विमला कितनी सुशील है ! कोई भी तो उससे प्रथम बार ही मिल कर उसका हो सकता है । कितनी बार नीचे बैठे विमला ने उसे कनखियों से देखा किन्तु जी भर हँस बोल कहाँ पाई वह ? फिर दूसरे ही क्षण नरेन्द्र को अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ । मन में समाई विमला को वह कैसे निकाले ?' वह विमला, जो केवल पहले ही दिन उसकी नस नस में समा कर रक्त का सञ्चालन करने लगी थी, उसे एकाएक दूर भगाने का नरेन्द्र में साहस नहीं था। बड़ी देर तक अपने पर विमला के अधिकार की बात को हटाता रहा वह । सोचता, व्यर्थ नया रिश्ता वह क्यों जोड़े ? ज़िन्दगी में किसी की याद रखना हो तो दुःख को पालना है । अपने ही बनाये हुये माया जाल में नरेन्द्र फँसा रहा । यहाँ तक कि उसे पता ही नहीं चला कि रामदास कब चाय का कप मेज़ पर रख गया । थोड़ी देर में रामदास फिर आया । मालिक को उसी प्रकार बैठा देख कर उसका जी भर गया । निकट आ बोला—"आपने चाय भी नहीं पी !"

"नहीं, रामदास कुछ सोचता था । याद ही नहीं रही । दूसरा कप ले आओ !"

जब रामदास चला गया, तो नरेन्द्र ने दिल बहलाने के लिये एक मोटी-सी किताब निकाली । किन्तु मन न लगने के कारण बन्द कर उसे एक तरफ़ रख दिया । चाय पीकर बाहर निकला कि सुधा भाभी ने बुलाया, खाना तैयार है, खाकर कहीं जायँ ।

नरेन्द्र खाने बैठ गया ।

सुधा ने थाली सामने रखते हुये कहा—"आज तो तू बाहर ही नहीं निकला । मैं कहती हूँ, इसका जब इम्तहान सिर पर आ जाता है, तो खाने पीने का भी फ़िक्र जाता रहता है ।'

नरेन्द्र भाभी की इस अत्युक्ति पर हँस पड़ा ।

निकट बैठी हुई शान्ति ने शोर मचाया—"दाल में नमक अधिक है, तरकारी में भी मिर्च ज़्यादा है ?"

सुधा ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि नरेन्द्र पर डाली । किन्तु वह तो चुपचाप, सिर नीचा किये खाता ही रहा । विमला की कल्पना ने उसे इतने ऊँचे उठा कर रख दिया था कि नमक और मिर्च ज़्यादा होने की उसे याद ही नहीं थी । शान्ति की चीख पुकार से चौंक कर बोला— 'हाँ ! ज़्यादा तो है !'

सुधा खिलखिला कर हँस पड़ी, फिर बोली—"अभी क्या ? आने दो ज़रा बहूरानी को !"

सुधा ने दाल में चम्मच डालते हुये फिर कहा—"सभी को सीधा स्वामी थोड़े ही मिलता है । इसके लिये भी बड़ी तपस्या करनी पड़ती है !"

नरेन्द्र के मुँह पर स्वाभाविक लज्जा की लाली दौड़ गई, हँस कर बोला—"नहीं, चाची ! आज क्लास में मार्क्स की 'थ्योरी' बताई गई थी, उसी को बैठा देख रहा था।"

सुधा चाची चुप हो गई।

अपनी ग़लती पकड़े जाने पर जैसे विद्यार्थी को दुःख और सन्ताप होता है, वैसा ही नरेन्द्र ने भी अनुभव किया। खाना खाकर उठा, कपड़े पहिन बाहर निकला, फिर सोचा, विमला के यहाँ ही चला जाय। विमला दरवाज़े पर ही मिली। दोनों हाथ उठा कर नमस्ते की, फिर हँस कर बोली—"आज आपने बहुत देर की ?"

नरेन्द्र क्या उत्तर दे ? चाहा, कह दे कि विमला, खाने में ज़रा देर हो गई। कल से और भी पहले आ जाया करूँगा। किन्तु निःशब्द चुप ही रहा।

विमला नरेन्द्र को छोड़ अन्दर भाग गई। नरेन्द्र के मन प्राण पर इसकी प्रगति-शील यौवन की चंचलता से भरी विमला की पुलकित मुस्कान और स्नेह स्निग्ध आँखें जल की अत्यन्त आतुर लहर के समान फैल गईं। माधुरी की इस तरल-स्नेहसिक्त धारा में नरेन्द्र का भावुक मन बह गया। नरेन्द्र ने सोचा—कितनी सुन्दर है विमला ! एक सुमन के समान उसका यह निखिल सौन्दर्य, उसे क्या पता, कितने भ्रमरों को पागल बना सकता है ! विमला की विचार धारा बहुत देर तक नरेन्द्र को उलझाये रही। सामने बिखरी पुस्तकों पर दृष्टि गई। नरेन्द्र ने एक पुस्तक उठा कर देखा, पहले ही पृष्ठ पर महीन सुन्दर अक्षरों में लिखा था—'कुमारी विमला' नरेन्द्र सिहर उठा, आँखें मूँद पुस्तक रख दी। फिर एक सिगरेट जला कर उसका बहुत सा धुआँ ऊपर फेंकते हुये वह सोचने लगा—'काश, विमला को वह इससे भी निकट से देख पाता ' ऊब कर नरेन्द्र ने सिगरेट बुझा दिया। तभी सामने से विमला अपने छोटे भतीजे विपिन के साथ आती दिख पड़ी।

विपिन ने आते ही नमस्ते की। फिर खड़े-खड़े ही हँस कर बोला—"मास्टर साहब कल आपके चले जाने के बाद से !"

"विपिन !" विमला ने बात काटी।

विपिन ने उसी प्रकार हँस कर कहा—"नहीं, मैं तो कहूँगा—हाँ, तो !"

"विपिन !"

परन्तु विपिन ने उसी प्रकार अपनी अब विमला ने

हाथ से विपिन का मुँह बन्द कर दिया। बोली—

, मेरा भोला विपिन, तू कितना अच्छा

स्नेह के अतुल उन्माद से भरे हुए झगड़े को देख कर नरेन्द्र हँस पड़ा। फिर बोला—"विमला, अपना पाठ याद करो।"

विमला को ग़लती मालूम हुई। एक अपराधी की भाँति मुँह पर से हाथ हटा लिया। चुपचाप अपना सबक़ ला कर बैठ गई। तब नरेन्द्र ने मृदु लज्जा से विमला का चेहरा लाल होता हुआ पाया था।

मुँह खुलते ही विशन ने हँस कर उसी प्रकार कहा—"दिन भर आपका नाम लेती रही। कहती थीं कि मुझे तो मास्टर साहब बहुत अच्छे लगते हैं। कितने सुशील और हँसमुख हैं। जी करता है कि "

"विशन तू !" और फिर कुछ न कह, विमला हँस कर अन्दर भाग गई थी।

विशन को एकाएक अपनी भूल की याद आई। हाय, उसने क्या कह दिया! इतनी बड़ी बात विमला दीदी के लिये वह कह गया था। अन्दर ही अन्दर विशन दुःख से गल गया। वह चुप हो गया।

नरेन्द्र ने कमरे के चारों ओर दृष्टि डाली। आँखें एक बड़े से फोटो पर जा कर टिक गईं। वह फोटो विमला का था। नरेन्द्र ने उस बिखरी हुई जैसी रूप-राशि के अन्दर विमला का कोमल सा तड़पता हुआ मन पाया—वह मन जिसकी अभ्यर्थना करने के बाद भी उसे सन्तोष नहीं हुआ था। बड़ी देर तक चित्र का विमला के सौन्दर्य को नरेन्द्र निरखता, एक असीम सुख का अनुभव करता रहा। फिर एकाएक विशन को याद कर बोला—"तो मेरा नाम लेती रही ?"

विशन केवल हँस भर दिया। फिर किताब बन्द कर बोला—"अब नहीं बताऊँगा। विमला दीदी नाराज़ होती हैं।"

नरेन्द्र ठहाका मार कर हँस पड़ा।

विमला फिर नहीं आई।

और एक दिन खाना खाकर उठा, तो रामदास ने एक चिट्ठी लाकर दी। नरेन्द्र ने लिखावट पहिचानी। एक विचित्र सुख से वह भर गया, लिखा था विमला ने—

"उस दिन विशन की बातों से क्या आप सचमुच नाराज़ हो गये ? मैं अपनी असावधानी के लिये क्षमा चाहती हूँ। तीन चार दिनों से आप आये क्यों नहीं ? मुझे न जाने क्यों कुछ अच्छा नहीं लगता है। सारा दिन आपकी याद आया करता है। शंका होती है, कहीं आप बीमार न हो गये हों। आशा है, आप स्वस्थ होंगे। यदि हो सके तो आज ज़रूर आइये।"

'और विमला ने सच ही तो लिखा था'—सोचा नरेन्द्र ने—'कहाँ पाँच रोज़ से विमला के घर ! वकील साहब के पूछने पर भी तो उसने

ही कह दिया था कि छुट्टी नहीं मिली, अब ज़रूर आऊँगा। कमीज़ पहिन कर वह बाहर निकला कि अचानक विराम ने नमस्ते की। फिर बोला—'विमला दादी ने आपको बुलाया है।"

"मुझे?"

'तीन दिनों से विमला दीदी ने खाना नहीं खाया है। मालूम है आपको?"

नरेन्द्र एक अपराधी की भाँति चुपचाप खड़ा रहा। विराम ने फिर कहा—"मास्टर साहब, आपको कुछ भी नहीं पता [illegible] विमला कितना !"

"विराम!" नरेन्द्र ने कुछ ज़ोर से कहा।

"आपने विमला दीदी का मन क्यों दुखाया—बोलिये?"

नरेन्द्र आगे सुन न सका। अन्दर भाग गया। जूते पहिन कर बाहर आकर बोला—"चलो, विराम, चलें। तुम्हारे घर चलता हूँ।"

विराम चुपचाप मन्त्रमुग्ध-सा साथ हो लिया।

घर पहुँच कर नरेन्द्र ने देखा विमला पहले से ही अपने कमरे में किताबें खोले हुये बैठी था। नरेन्द्र को आते देख कर उसने नमस्ते की।

विराम ने दौड़ कर कहा—"देखो, मैं लाया हूँ मास्टर साहब को बुला कर। मुझे मिठाई खिलाओ।"

विमला ने डाँट बताई, तो नरेन्द्र ने हँस कर कहा—"नहीं, मिठाई तो मैं भी खाऊँगा।"

विमला लाज से गड़ गई।

विमला की डाँट से विराम चुपचाप अन्दर भाग गया।

नरेन्द्र ने अपने अत्यन्त सन्निकट बैठी, किताबों से उलझी हुई विमला को देखा और देखा उस रूप पुञ्ज के अन्दर उठती हुई महान् अभिलाषा को जो फेन के समान छाई थी। नरेन्द्र ने अनुभव किया, विमला इन तीन दिनों में ही बहुत उदास हो गई है। आँखें उसकी भीतर धँस गई हैं और मुख पर एक म्लान, अतिक्लिष्ट हँसी की रेखा खिंच गई है। अपने इस अनुभव से नरेन्द्र को दुःख हुआ। वह एक आहत पक्षी की भाँति बोला—'विमला!"

"जी!"

"क्या मुझे क्षमा न करोगी?"

विमला पुस्तक की काली-काली लकीरों से ही उलझी रही। केवल उसकी बड़ी बड़ी, नीचे झुकी हुई आँखें भीग गईं। नरेन्द्र ने निकट आकर कहा—"मुझे माफ़ करो!"

"आपको ?"

अब विमला ने अपनी आँखें उठाईं। कनखियों से नरेन्द्र को देखा। नरेन्द्र ने उन कातर युग आँखों में अभिलाषा का वह रूप देखा, जिसे देख कर वह काँप उठा। फिर बोला—"मुझे नहीं मालूम था कि तुम मुझे इतना "

विमला ने अब बात काटना ज़रूरी समझा, उत्तर दिया—"आपको क्या, आप भी यदि पुरुष न हो कर मेरी [redacted] भाँति स्त्री हुये होते, तो जानते !"

नरेन्द्र पर एक अनोखा नशा छा रहा था।

विचित्र सिहरन अपने अन्दर वह अनुभव कर रहा था।

नीचे बैठी विमला ने मन का एक सूना कोना अपने स्नेह से ढँक लिया था। उस एकान्त निर्जन, कमरे के बीच बैठे हुये नरेन्द्र ने विमला को देखा, विमला ने आँखें नीची कर लीं।

नरेन्द्र ने नीचे बैठी विमला का हाथ अपने हाथ में ले लिया। यौवन का रक्त दोनों के शरीर में दौड़ने लगा।

विमला निश्चल निर्जीव, स्वप्न में खोई-सी, प्रतिमा सी, बैठी रही। विमला की पतली गोरी-गोरी उँगुलियों को छूता हुआ नरेन्द्र बोला—"क्या सच, मुझे क्षमा न मिलेगी ?"

विमला हँस पड़ी।

उसकी इच्छा थी कि वह इसी प्रकार बातें करता रहे। इन बातों का कभी अन्त न हो। क्रियाहीन अशान्त, विमला के अलसाय, यौवन भार से बोझिल शरीर को खींच कर नरेन्द्र ने अपने बाहुपाश में कस लिया।

इसी समय माँ ने अन्दर से पुकारा—"विमला !"

विमला दौड़ कर माँ के पास भाग गई।

इस घटना के पश्चात् नरेन्द्र विमला के अत्यधिक निकट आ गया।

विमला सोचती—'नरेन्द्र कितना सरल और भावुक है। बातचीत के सिलसिले में कितनी बार उसने अपनत्व की छाया बिखेरी है।' नरेन्द्र सोचता—'काश, ज़िन्दगी का प्रभात उसी की स्नेह धारा में बह पाता !' अपनी इस सुन्दर कल्पना में उसे विचित्र सुख मिलता।

जाड़े के दिन थे। नरेन्द्र देर से विमला के घर आया। बाहर का कमरा खाली था। विमला किसी कार्यवश भीतर गई थी। किताबें इधर उधर बिखरी पड़ी थीं। नरेन्द्र सीधे विमला के बड़े से फोटो के निकट पहुँचा। बड़ी देर तक चित्र में बिखरी हुई रूप-सुधा को निरखता रहा। जैसे तस्वीर सचमुच सजीव रही हो। नरेन्द्र भावनाओं

में बढ़ गया। मन भर कर विमला को प्रणाम किया। चाहेता है फिर हाथ जोड़ श्रद्धा से बोला—"विमला ! तुम्हें क्या पता ... ?"

तभी एक खिलखिलाहट से नरेन्द्र का ध्यान टूटा। देखा विमला मुस्करा कुरसी का सहारा लिये वहीं पे निकट खड़ी उसे देख रही है। नरेन्द्र लजा सा कट गया। विमला ने प्यारे से मुस्करा कर नम्रतर आवाज़ में कहा—"प्यारा पगली नहीं होता, मास्टर साहब !"

नरेन्द्र निर्वाक मूक, अवाक विमूढ़ सा खड़ा रहा।

विमला ने आगे बढ़ कर, बिलकुल नरेन्द्र के समीप पहुँच कर कहा—"मास्टर साहब ! फिर दिल की ओर इशारा कर बोली— मालूम है यह कौन है ?

नरेन्द्र ने गरदन हिला कर उत्तर दिया—"नहीं।

विमला ने एक जानकार की भाँति अपने मांग पर अँगुली रख कर कहा—"मैं !"

तभी विमला ने फिर प्रश्न छोड़ा—"जानते हैं, यह कहाँ रहती है ?"

नरेन्द्र चुप रहा।

नरेन्द्र ने आँखें मूँद लीं।

हँसती हुई विमला ने अब आगे बढ़ कर झुक आये हुये नरेन्द्र का हाथ पकड़ कर कहा—"आइए, मैं बताऊँ, यह देवता कहाँ रहता है ! और विमला ने नरेन्द्र के हृदय को अँगुली से छु कर कहा—"यहाँ ! समझे आप ?"

नरेन्द्र खिलखिला कर हँस पड़ा।

विमला एक सोफ़े पर जा कर बैठ गई। मन उसका एक अछूते आनन्द से भर रहा था। फिर वहीं से हँस कर बोली—"एक बात पूछूँ मास्टर साहब ?"

नरेन्द्र ने सिर हिला कर जैसे हामी भरी।

"तो बताइये, प्रेम क्या है ?"

नरेन्द्र अपने में आया। वह कैसे समझावे ? क्या कहे विमला से ? जिस असीम अनन्त अकथनीय प्रेम की कोई परिभाषा नहीं, उसे वह कैसे प्रकट करे ? फिर भी विमला को तो उत्तर देना ही है। वह अपनी पराजय माने कैसे ? इसीलिये बोला एक विद्यार्थी की भाँति—"किताब खो गई है। एक-दो दिन में देख कर बताऊँगा।"

विमला खिलखिला कर हँस पड़ी।

फिर अत्यन्त स्नेह भरा विमला के निकट आ कर वह बोला—"विमला रानी ! जानती हो, प्रेम क्या है ?"

विमला ने नीचे ताकते हुये धीरे से कहा—"नहीं !"

नरेन्द्र ने विमला का हाथ अपने हाथ में ले लिया। निश्चेष्ट, निःशब्द बनी रही

वह, जैसे किसी ने मंत्र-मुग्ध कर दिया हो ! आवेश की तरल धार में नरेन्द्र बह गया । उसके बालों को धीरे धीरे सहलाते हुये बोला—"अब भी नहीं समझीं विमला, कि प्रेम क्या है !"

विमला ने आँखें ऊपर कीं । नरेन्द्र की मदभरी आँखों से उसकी आँखें टकराईं । स्वप्न विस्मृत सी वह मुस्करा दी ।

× × ×

और एक दिन नरेन्द्र ने सुना कि विमला की नानी बीमार है, सब लोग गाँव जा रहे हैं । उस रात वह नींद रूठने न पाया । रह रह कर विमला की याद आती रही । सुबह होते ही हाथ मुँह धो, कपड़े बदल वह विमला के घर पहुँचा । देखा, मकान खाली पड़ा है । नौकर ने बताया, अभी सब लोग स्टेशन गये हैं । नरेन्द्र ने घड़ी देखी, छ बज कर दस मिनट हो चुके थे, और साढ़े छ पर ही तो ट्रेन जाती है । ताँगा कर नरेन्द्र शीघ्रता से स्टेशन की ओर बढ़ा । मार्ग भर वह अनमना सा बैठा विमला के विषय में न जाने क्या-क्या सोचता रहा । बीच में रेल के फाटक पर ताँगा रुक गया । फाटकवाले ने बताया, गाड़ी आ रही है ।

नरेन्द्र ने घड़ी देखी, छ बज कर पैंतीस हो चुके थे । एक भारी निद्रा से चौंका नरेन्द्र । और तभी सचमुच ट्रेन आ गई । नरेन्द्र का हृदय धड़कने लगा । वह ताँगे पर खड़ा हो कर देखने लगा । भाड़ के बाद उसने देखा—इन्टर-क्लास के एक डिब्बे की खिड़की से दो हाथ अचानक ऊपर उठ कर उसे नमस्ते कर रहे थे ।

नरेन्द्र पर जैसे बिजली गिरी । वह चिल्ला उठा—"ताँगा लौटाओ !"

ताँगावाला चकराया; बोला—"स्टेशन न चलेंगे सरकार ?"

"नहीं !"

विवश हो ताँगेवाले ने ताँगा वापस किया, और उसी दिन नरेन्द्र ने चाचा का वह घर छोड़ दिया ।

नरेन्द्र ने शहर के बाहर रहने के लिये जब मकान लिया, तो उसके मित्रों को बड़ा आश्चर्य हुआ । सभा सोसाइटियों में पक्षी की भाँति चहकनेवाले नरेन्द्र को साधुओं-जैसा जीवन यापन करते देख, पहले तो उनकी समझ में ही न आया किन्तु बाद में नरेन्द्र की पीड़ा व्यथा बिजली के तेज प्रकाश की भाँति सभी पर बिखर गई । पिछले सात दिनों से विमला की याद को वह किसी भी प्रकार भुला नहीं पाया है । न जाने क्यों वह सुन्दर विमला नरेन्द्र के जीवन में फिर एक बार पक्षी की भाँति चहचहा उठी ।

नरेन्द्र सवेरे ज़रा देर से उठा। हाथ मुँह धो कर जब बैठा, तो रामदास ने कहा, "चाय लाऊँ, बाबू जी!"

नरेन्द्र ने धीमे स्वर में कहा—"ले आओ!"

तभी रामदास ने आ कर एक लिफ़ाफ़ा दिया। नरेन्द्र ने लिखावट पहिचानी, विमला की लिपि थी। फाड़ कर पत्र निकाला। एक दीर्घ निःश्वास के साथ पत्र छूट कर फ़र्श पर गिर पड़ा। नरेन्द्र गिरते गिरते बचा।

नीचे बड़ी देर तक पत्र पड़ा रहा।

लाल काग़ज़ पर सुनहरे अक्षरों में लिखी हुई पंक्तियाँ सूर्य के प्रकाश में और भी चमक रही थीं। नरेन्द्र बड़ी देर तक दीवार से पीठ टिकाये सिगरेट पीता रहा। फिर एकाएक फ़र्श पर पड़े हुये पत्र को उठा कर टुकड़े टुकड़े कर डाले। यह था विमला के विवाह का संदेश।

पतन की ओर

ज्येष्ठ वैशाख की तपती हुई दुपहरिया में भी उसकी काली आँखों में शीतलता और सन्तुष्टता की छाया सी नाच उठती। किसी अज्ञात वेदना से उसके लाल अधर मुरझा जाते।

सिर पर एक छोटी सी पीतल की कलसी और हाथ में लोटा ले कर सम्पतिया अपने में एक नया आकर्षण अनुभव करती। खेतों की सँकरी मेड़ों पर अपनी मैली धानी के आँचल से रोटियों को ढँके हुये जब धीनू के पास अपनी झुलकती हुई आँखें ले कर जाती, उस समय सारे संसार का उन्माद सा उसे अपनी उस अनूठी मुद्रा में सीमित सा मालूम होता। सम्पतिया सब कुछ समझ कर भी नासमझ बनी रहती।

उसका घर था—दो कमरे पटे हुये, एक छोटी सी झुकड़िया, द्वार पर एक छप्पर। वह उन्हें देख कर सोचती—'सच! हमारे पास सब कुछ है, खेत हैं, बैल हैं फिर ये भी तो मुझे प्यार करते हैं। मुझे और चाहिये ही क्या? शहरों में क्या रखा है!' उसकी अभिलाषा जाग्रत हो उठती। धीनू उससे हँसता बोलता और अन्त में उसकी फटी हुई धोती की ओर संकेत करके कहता—"अरी देख न! शहरों की स्त्रियाँ कभी इन्हें छूती तक नहीं। अब की जब कभी 'पैंठ' जाऊँगा, तो तेरे लिये एक अच्छी सी धोती लाऊँगा। समझी, हाँ!"

और सम्पतिया शरमा-सी जाती, और फिर धीरे से कहती—"हूँ! तुम्हें दिन भर यही सूझता है। मुझे इसी में सुख है। शहरों की औरतें सुनती हूँ, पति परित्यक्ता होती हैं, फिर भला तुम्हीं बताओ उन्हीं के से वस्त्र मुझे भी पहनाओगे?"

और धीनू 'टिक! टिक!' कर हल चलाने लगता।

धीनू के गाँव से देहला शहर थोड़ी दूर था। महीने में एक दो बार वह अपने खलिहान को साफ़ कर नाज ले बाज़ार में बेचने आया करता था। वहीं पुरानी जामा मस्जिद के सामने अपना ढेर लगाये हुये धीनू बैठा बैठा सोचता—'यह बिजली का उज्ज्वल प्रकाश, यदि सम्पतिया एक बार भी देख ले, तो मिट्टी के तेल की ढिबरी से काम लेना ... दे!' साफ़ थोड़ी दूर तक फैली सड़कों को देख कर उसका हृदय

रो पड़ता । आप की गुड्डों के समान छोटे छोटे बच्चे गाड़ियों में बैठे टहल रहे हैं। मोटरों की भों भों, साइकिलों की ट्रिन ट्रिन ! सब का सब ! बीनू यहाँ रहने पर तुला हुआ था।

उस दिन आकाश में आग सी लग गई थी। उसकी ज्वाला से प्राणि मात्र व्याकुल हो इधर उधर भाग रहे थे। लू सर्राटे ले रही थी। मीलों तक किसी छायादार वृक्ष का पता न था। सम्पतिया अपने हाथ में सुमारी लिये हुये तथा पीतल की छोटी सी कलसी के साथ मेड़ों पर चली जा रही थी।

"मरूँगी, मरूँगी सखी ! मरूँगी मरूँगा !"

कोई गा रहा था। रात्रि के अन्तिम पहर की भाँति शान्त वह स्वर उसके कानों को सुना रहा था कि—'सम्पतिया ! मैं तुम्हारा हूँ, और तुम मेरी। देखो मुझे रुष्ट न करना, मेरी प्रसन्नता तुम्हारी प्रसन्नता में ही तो है, समझी ?' और सम्पतिया की टासुक आँखें, बैलों की जोड़ियों को चलते हुये देख रही थीं। बीनू कुछ गुनगुनाता हुआ हल चला रहा था। उसके मस्तक पर पसीने की बूँदों को देख कर वह एक बार सोच में पड़ गई— यदि नौकरी कहीं मिल जाय, तो इससे लाख अच्छा है। मगर करेंगे कहाँ !'

हल रुक गया, बीनू उसकी धोती से रोटी खोल मेंड़ पर बैठ कर खाने लगा। वह सोच रहा था—'इसमें हानि ही क्या है। सब स्त्रियाँ तो चरित्रहीन होती नहीं हैं, फिर केवल सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों को ही पहन कर कोई अपने चरित्र को नष्ट नहीं करता। जब इसकी छोटी-छोटी पतली कलाइयाँ, शहरों की रबड़ की चूड़ियों से ढँक जायँगी, उस समय यह कितनी भली, अनूठी, सरस लगेगी !'

विचार धारा बह रही थी— हाँ ! तो इसे राजी कैसे करूँगा ? यही तो कहता हूँ, बिना पढ़ी लिखी औरत भगवान् किसी को भी न दे !'

पति को चुपचाप देख कर सम्पतिया बोली—"आज क्या देख रहे हो, क्या मेहनत अधिक करनी पड़ी ?"

बीनू की श्वासों में उसका भविष्य हँस गया, बोला—"तुम्हें क्या ? तुम तो घर पर बैठी रहती हो, अगर कहीं इतना काम करना पड़े, तो सब मालूम हो जाय। अभी मुखिया आया था लगान के लिये कह रहा था।"

"फिर क्या सोचा है ?" सम्पतिया ने एक करुणा भरी आह खींची।

'सोचा क्या है यदि शहर में होता तो मजदूरी ही करके कुछ रुपयों का प्रबन्ध कर लेता।" बीनू नीचे सिर किये हुये ही बोला।

तो क्या हुआ, करो न नौकरी, तुम्हें मना ही कौन करता है ? अगले हफ्ते ही मैं सब ठीक कर लूँगा।"

सम्पतिया की व्यंग्यपूर्ण मुस्कान बीनू के हृदय में धँस गई। उसने लापरवाही से कहा—"तो शहर में जा कर करना पड़ेगा।"

"शहर में ही सही, तुम शाम को वापस आ जाया करना, मैं यहीं रहूँगी समझे !"

बीनू को क्या जो चाहता था वही मिला, बोला—"अरी पगली ! तूने अभी शहर देखा ही कहाँ है ? वहाँ चमाचम बिजली की रोशनी होती है। सुनता हूँ, मोटरगाड़ियाँ आकाश में उड़ती हैं। अरी, क्या बताऊँ यदि एक बार भी तू वहाँ हो आवे, तो यहाँ रहने का नाम ही न ले।"

"रहने भी दो। तुम्हें अगर किसी की तारीफ करने को लगा दिया जाय, तो बस !" सम्पतिया ने अपना मुख पति की ओर से हटा लिया।

"तारीफ ! इसमें तारीफ ही काहे की ! अगर मेरा न मानो, तो चलो न ! जी ऊबने पर वापस आ जावेंगे। अभी कल ही तो बलदेव वहाँ से लौट कर आया है। कहता था, तस्वीरें नाचती और गाती हैं, और हाँ ! तुम्हें मैं माँग का सिंदूर ला दूँगा, समझी !"

सम्पतिया के खिले हुये गालों पर लज्जा की लालिमा दौड़ गई। उसने सिर नीचे कर के कहा—"मेरे लिये सिंदूर लेकर क्या करोगे ? हाँ ! अपने लिये बूट ले लेना।"

और बीनू हल चला रहा था। सम्पतिया खेत पर से चली आई। शहरों की तड़क भड़क और नौकरी की इच्छा ने उसके हृदय में उत्सुकता भर दी। समस्त दिन वह अपने पड़ोसियों से शहरों की विचित्रता के सम्बन्ध में बात चीत करती रही। शाम होते ही उसने खाना बना लिया। फिर बीनू द्वारा मेले से लाई हुई हरी धोती पहन कर पति की प्रतीक्षा करने लगी।

आज उसने अपनी पड़ोसिन से साबुन ले कर जीवन में प्रथम बार लगाया था और बार बार शीशे में मुँह देख कर सोचा थे—'अभी क्या शहर में चल कर मैं इससे भी अधिक सुन्दर हो जाऊँगी !'

नीले आकाश में दीप जल उठे। प्रकृति गम्भीर हो चली। सन्ध्या का प्रथम चरण समाप्त हो गया। सम्पतिया और भी उत्सुक हो उठी। ठीक समय पर बीनू आया। बाहर बैल बाँध कर वह बैठक में कुछ गुनगुनाने लगा। फिर कपड़े उतार कर वह अन्दर गया।

सम्पतिया बैठी सोच रही थी—'चलो, शहर में रहेंगे ! घूम घाम देखेंगे, यहाँ क्या रखा है ? राधे की अम्माँ भी तो शहरों में रहती है। वे चरित्रहीन

दूर से हरी साड़ी की चमक दिखाई पड़ी। बीनू की प्रतिदिन

बोला—"अरे तू तो अब ठेठ शहर की-सी औरत बन गई है !"

सम्पतिया की आँखें नीचे झुक गईं। धीरे से वह बोली—"क्या शहरों की औरतें ऐसी ही हुआ करती हैं?"

वीनू हँस कर बोला—"फिर वही बात! कहता तो हूँ, पगली न! वहाँ रोज़ा "हू-हा" का भी घटनाएँ होती हैं। तू तो उन्हें देख कर डर जायगी।"

"तो अच्छा कल का दिन अच्छा है। पण्डितजी भी यही दिन बताते थे। परसों धूप तक वापस आ जायेंगे। मैं कल्लू की माँ से दस रुपये उधार लिये आती हूँ, फसल कट जाने पर दे दिये जायेंगे।"

"जैसा ठीक समझो वैसा कर लो!"

आज सम्पतिया बड़ी उमंग के साथ उसे खाना खिला रही थी।

× × ×

रुपहली प्रभात और सुनहरी सन्ध्या ने सम्पतिया [redacted] आतुर हृदय को आकर्षित कर दिया था। अरमानों से भरे हुए प्रफुल्लित मन सम्पतिया और बानू देहली के एक छोटे से घर में बैठे थे।

वीनू ने बड़ी चेष्टा कर के एक दूकान किराये पर ले ली। उसमें वह पान बीड़ी बेचना चाहता था। दूसरे ही दिन कुछ पान सिगरेट और दियासलाइयों के बण्डल ला कर उसने दूकान में रख दिये।

छोटी होती हुई भी उसकी दूकान पड़ोस की दूकानों से अच्छी थी। वह बाज़ार का रास्ता था। समस्त दिन मनुष्य चला ही करते थे।

बानू ने एक सप्ताह पश्चात् एक दैनिक पत्र के प्रेस में नौकरी कर ली। वीनू कुछ पढ़ा था, अतः थोड़े ही दिनों में उसे कम्पोज़ीटरी का काम मिल गया। दूकान पर बैठती थी अकेली सम्पतिया। कुछ दिनों तक तो वह सकुचाई परन्तु फिर परिस्थिति ने उसमें बड़ा साहस और धारज का मन्त्र फूँक दिया।

उसकी दूकान पर प्रायः ग्राहकों की भीड़ रहती। कोई कोई मनचला कुछ गुनगुनाता हुआ हँस कर कह देता— आज पान नहीं खिलाओगी!

और सम्पतिया हँस कर हाथ बढ़ा देती। उसकी उस अनूठी, सरल मुस्कान में भी एक आकर्षण था। उसके ग्राहक उसी के पास आते थे।

सम्पतिया हँसती हुई सब से कहती—"लो, बाबू बहुत दिनों में आये!"

रात्रि होती। बानू काम पर से वापस आता, दोनों में कुछ मीठी मीठी बातें होतीं। फिर इस नये जीवन पर टीका टिप्पणी होती, और उनके नेत्रों में नींद छलकने लगती।

× × ×

वह एक सुन्दर सवेरा था। सम्पतिया उस दिन प्रात काल से ही अपनी दूकान पर बैठा था। नित्य की भाँति नवयुवकों का दल उमड़ रहा था। और वह सब को उनके इच्छानुसार पान बीड़ी दे रहा था। उसकी उनींदी आँखें उस दिन किसी को ढूँढ सी रही थीं। वह नित्य आता था। एक सफेद खद्दर का कुरता और चप्पल पहने हुये। वह पान खाकर चुपचाप चल देता था। पहले ही दिन उसने पान लेकर उसके हाथ में एक रुपया रख दिया था, और सम्पतिया की भोली भाली आँखें आश्चर्य से चमक उठी थीं। उसने उसे वापस करने की चेष्टा की थी। पर वह न माना था। बस, उसी दिन से वह उसे जानती और पहचानती थी। कभी कभी वह हँस कर कह भी देता था—'चलो, आज सिनेमा देख आयें!"

पर सम्पतिया केवल मुस्करा कर रह जाती थी। उस दिन भी वह आया। वही प्यार की हल्की छाया, वही ढीला पायजामा। इन्हीं गिनी घड़ियों के अन्दर सीमित सौन्दर्य की सच्ची प्रतिमा! सदा की भाँति उसने एक रुपया निकाला और उसे उसके हाथ पर रख कर बोला—"लो, इसकी मिठाई खा लेना, समझीं!'

सम्पतिया चुप थी। शहर के मनुष्य बड़े दयालु होते हैं, यह वह खूब जानती थी। भीड़ कम हो चली थी, वह पास ही खड़ा सिगरेट पी रहा था—"चलो न!"

"ना, पाप होगा।"

वह और पास आ गया! स्थान जन हीन था। उसने उसे पकड़ लिया। सम्पतिया हाँफती सी उठ खड़ी हुई—फिर झट से बोली—"यह तुमने क्या किया? हाय! यदि कोई देख लेता तो!'

वह एक ओर हँसता हुआ चला गया। सम्पतिया पान बेचने लगी। उसरात्रि को वह दीनू से जी भर कर बोली भी नहीं।

"चलो न!" वह स्वप्न देख रही थी। वही ढीला पायजामा और चप्पल पहने हुये वह झूमता हुआ आया। और वह दूकान पर बैठी थी। उसने उसे मना लिया था और वह उसके साथ चल दी थी। कोई उसे हिला रहा था। उसने आँखें खोलीं। देखा—दीनू काम पर जा रहा था। वह हड़बड़ा कर उठ बैठी। फिर दीनू को काम पर भेज कर वह अपनी दूकान पर आकर बैठ गई।

"चलो न!'

सदा की भाँति वह आया। सम्पतिया का स्वप्न मूर्त्ति हो उसके सामने खड़ा था। वह उसकी ओर देख कर कभी मुस्करा देती और कभी नाराज़ सी हो मुख फेर लेती। सम्पतिया सोच रही थी इसमें हानि ही क्या है? चलूँ, देखूँ! सुनती हूँ, तस्वीरें चलती हैं, यह भी तो कह रहे थे। फिर ऐसा दयालु मनुष्य भी तो मिलना मुश्किल

है। कल वह 'ओवर टाइम' करेंगे। बारह बजे तक जायेंगे, तब तक वापस आ जाऊँगा। उन्हें खबर भी न होगी कह दूँगा दुकान पर थी।

सम्पतिया के मुख पर स्वीकृति की झलक देख कर वह बोला—"क्यों, क्या सोच रही हो!'

सम्पतिया मानो पृथ्वी में गड़ गई कुछ झेंपकर बोली—"तरसाते चलता हूँ। क्यों!

"हाँ, हाँ तभी तो कहता चलो न ' दुलमी कैसे भागता-भागता है।"

सम्पतिया कुछ कहना चाहती थी। यहीं पर नारी की माया शक्तियाँ पुरुष की कल्पना के परे अपना एक अनूठा संसार उपस्थित कर देती हैं। यहीं पर नारी पुरुष से बहुत बड़ा विश्वास की मूक प्रतिमा बन कर उसे सुझाती है कि मैं तुम्हारी कल्पनाओं में मिल कर अमर होना चाहती हूँ।

"तो, कल चला'' वह शरमाते हुये बोली।

"कल ही सही।"

वह एक ओर मुस्कराता हुआ चला गया। रात भर सम्पतिया को नींद न आई। प्रातःकाल होते ही वह दुकान पर जा बैठा। वह ठीक छः बजे शाम को आया, वही ढीला पायजामा और कमीज पहने हुये। सम्पतिया ने दुकान बन्द कर दी।

घोर अन्धकार की सघनता में दो अपरिचित प्राणी न जाने कहाँ बढ़ चले जा रहे थे।

× × ×

बीनू स्वयं भी देहली जैसे व्यभिचारपूर्ण नगर में आ कर अछूता न रह सका। अपने साथियों के प्रोत्साहन से वह मदिरा का भी सेवन करने लगा था। प्रायः दो दो, तीन-तीन दिन तक वह घर में ही न आता था। भोली सम्पतिया 'ओवर-टाइम' समझ कर सन्तुष्ट हो जाती।

उस रात को भी नित्य की भाँति बीनू मन में झूमता हुआ घर आया। परन्तु यह क्या! घोर नीरवता में घर की ईंट ईंट में किसी अव्यक्त वेदना की काली छाया काँप रही थी—सब अन्धकार था बीनू सहम गया। सोचा—'अभी दुकान से नहीं आई होगी। परसों भी तो इसी समय आई थी।' उसने उठ कर मिट्टी के तेल की डिबिया जलाई, फिर कुछ सोच कर उसे बुझा दिया।

टन! टन!!

घड़ी ने दो बजाये। बीनू की पथराई हुई आँखों में तब गलियाँ घूम गईं। फिर गाँव की हरी भरी भूमि। और कुछ देर बाद सम्पतिया का सरल भोला मुख! उसका हृदय ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था। उसकी आँखों में नींद हँस रही थी। उसे स्वप्न हो रहा था, देखा—वह गाँव के अपने खेत जोत रहा है। बैल चुपचाप चले जा रहे

और सम्पतिया कुछ दूर से वही पीतल की छोटी सी कजली लिये हुये चला था ी है। वह उसे ग्रामीण जीवन पर चिढ़ा रहा है और 'वह' प्रकृति की एक सरस ना गाँव छोड़ना नहीं चाहती! बीनू की आँख खुल गई, कोई न था। केवल वही, केला, निर्जीव अबोध! प्रात काल की अरुण किरणें उसके लिये न जाने कितना छुण सन्देश लाई थीं! बीनू काम पर चला गया।

एक सप्ताह हो गया। बीनू अब प्राय घर में ही न आता था। सम्पतिया की भी से चिंता न थी। समस्त दिन वह शराब के नशे में चूर हो प्रेस का काम करता, ौर रात होते ही किसी वेश्या के यहाँ चला जाता। उसका जीवन उल्लास और न्माद का ज्वाला में भुलस रहा था।

× × ×

आज अपना एक मित्र उसे एक नवीन वेश्या के पास ले जायगा, इसीलिये ी उसने साफ़ कपड़े पहने हैं। ठीक समय पर वह चल दिया।

वह एक तीन मंजिल का कमरा था। सड़क की दाहिनी ओर होने के कारण त्येक व्यक्ति की उस पर दृष्टि जाती थी। बीनू धीरे धीरे उसी की ओर बढ़ रहा था। कौन जानता था कि उसकी अपनी भोली सम्पतिया इसी विशाल प्रासाद में बैठी हुई आज पतन और अवनति के गर्त में गिर कर संसार पर राज्य कर रही होगी? कौन कह सकता था, एक सरल ग्रामीणा आज अपने रूप और यौवन से नागरिकों की वासना की तृप्ति कर रही होगी?

बीनू चुपचाप उसी की ओर बढ़ रहा था। उसके हाथ पैर काँप रहे थे, हृदय धक् धक् कर रहा था। मन कुछ सोच रहा था—शायद सम्पतिया के ढूँढ़ने की ही बात हो। आज वह एक नवीन वेश्या के पास आया है, तभी तो आरम्भ से ही उसे उदार और स्नेही बनना चाहिये। इसीलिये तो वह मैनेजर से चालीस रुपये उधार ले कर आया था। तो क्या वह सचमुच उसे अपना आहत हृदय सौंप देने के लिये ही आया है। बीनू सीढ़ियों पर चढ़ रहा था। विचारों में नवीनता आने लगी, कल्पना ने प्रत्यक्ष का स्थान ले लिया।

एक अल्हड़ सुकुमारी बैठी पान लगा रही थी।

बीनू की आँखें खुली रह गईं। पाश्चात्य पाउडर और लवेण्डर से ओत प्रोत होते हुये भी उसका मुख बीनू से छिपा न रह सका। धीरे से उसने कहा—"स ति

...अन्दर जा चुकी थी। पीछे से कुछ गिरने का शब्द हुआ। ... थी।

पुलिस 'बीनू' को पकड़ हुये थाने की

दो काली-काली लकीरें

उर्मिला टी-सेट लेकर आई।

निशिकान्त मैगज़ीन पढ़ता रहा।

उर्मिला ने टी-सेट मेज़ पर सजा दिया, पर कुछ बोली नहीं। ज़रा गौर से अपने आपको महसूस कर वह सामने आ लगा। एक मूक दायरे में जैसे वह सारी अपनी भावनाओं को फैला, पास को बिखर खिंची रहती।

निशिकान्त ने उसे देखा और देखा कर के उसकी सरोष मन्द भाव को। अस्पष्ट बोला—"क्षमा दो, बिल्कुल आप सच-सच और भूल नहीं है!'

उर्मिला जैसे कट गई हो।

वह अवहेलना का तह में पहुँच गया? वह चाय बनाये, लाये और फिर इस निशिकान्त का ज़रा पाने से क्यों हटे? आग सुलगत सामने दाब जहाँ बच गया था वहाँ ज़रा अधिक हुआ। हुआ और उसका चेहरा से निर्मिला कर यह बोला—"भूख हो तो खाने में अहसान क्या?' और वह उसे दूर कर एक ओर मन्थर गति से चली गई।

यह सब भी निशिकान्त के लिये थोड़ा है। उर्मिला की उलझन से उसका मन भीग जाता है। बस बातन से दूर हटा कर भी जैसे उर्मिला तकरार और यहाँ गई पर वह तकरार की खोज में था, ज़रा गुस्सा हो, अपना चेहरा यहाँ बाज़ क्यों गई? भूख उसको है। उसका अभाव उसने आप तह अपने में पाया है। फिर उर्मिला को वह कैसे इसमें शामिल करे? और उर्मिला आई नहीं, तो सोचा—'यदि यह ज़रा पी लेता, तो क्या उर्मिला उसे बुरा कहती।'

निशिकान्त ने ज़रा सँभल सिगरेट जलाई। आँख दीवार पर लगे एक वालपेपर पर रुकीं, फिर मेज़ पर बिछे मेज़पोश पर कुछ देर ठहरीं। याद आई, इसी मेज़पोश के लिये उसने पारस्पल टेमसिल के गुलों का तकाज़ा किया था। छुट्टी में पढ़ाई से छूट जब वह घर आया, तो उर्मिला ने एक छोटे दरजे का नोट ले सुनाया था—"खूब, कोई यहाँ गुलों का रास्ता देखे और कोई वहाँ जा मज़े से सोता रहे।'

निशिकान्त मज़ाक का शिकार बना।

बात उस पर कही गई थी।

फिर भी वह चुप रहा। ज़रा जमा, तो एक 'मूक छाया का ध्यान आने लगा। वह उस छाया का मिलान उर्मिला से करता, और ठीक उसे ऐसा लगता, जैसे उर्मिला उसकी कोई रही हो। पर निशिकान्त उसकी पकड़ में न आता, न आता, न आता।

उर्मिला सोचती—'यह निशिकान्त भी कैसा पुरुष है। यह मेरी भावनाएँ बूझता ही नहीं। सवाल को सुन, ज़रा रुक, सुस्त-सा ऊपर-ऊपर का जवाब दे देता है, और यह इसे कहे भी क्या?'

निशिकान्त उसे पहले से जानता है। तब भी वह उसकी ख़यालों झलक पा, अन्य लड़कियों से मिला।

वह रिश्ते में उसकी बुआ की लड़की थी।

कुछ छुट्टियाँ बीत चलीं, तो एक दिन उसने सिनेमा का प्रोग्राम क्यों बना डाला और उसे सुन, अपनी खिली खिली आँखों को घुमा उस बनी-बनाई स्कीम में उर्मिला समूची समा क्यों गई? सादों में वह अस्त-व्यस्त नारी कुछ कुछ भरी सी केवल मूक कल्पना-सी भोली समझी न गई। धीरे से बोला—"ज़रा रुक, ठहर! खा कर दूसरे शो में चलेंगे।"

उर्मिला अपने में समा गई।

कुछ बोली नहीं। चुप चाप रहा। मन की बात थी, वह पूरी उतरी। थोड़ा सा हँस, मन पँग धीरे धीरे उसके सामने से ही कहती कहती 'चलना ज़रूर!' एक ओर चली गई।

बात कहने की थी, कही, उसे निभाना क्या? टालने का बहाना ही ठीक जँचा। और वह कहाँ जाना चाहता था? ख़ुद समझ न पाता था।

उर्मिला उसकी बात लिये बैठी रही। रात में जब सब सो गये, तो वह आई, ज़रा और आगे बढ़ी, तो देखा—निशिकान्त चुपचाप सो रहा है। कुछ बोलना अच्छा न लगा। मन मार कर लौट आई। दूसरे दिन धीरे से कहा—"वाह! सिनेमा देख कर तो पेट भर गया!"

निशिकान्त कुछ बोला नहीं। बात उसी पर थी। कुछ उलझी उलझी वह नहीं रही। उर्मिला मख़ौल से बाहर रही। सोचा—'उर्मिला ठीक कहती है। एक धोखे में आ क्या हम उसे सच न कहेंगे?'

एक दिन निशिकान्त पकड़ में आ गया। उसकी माँ का अनुरोध वह टाले कैसे! बोली थी—"ओ निशि! इसे सिनेमा दिखा ला, कान खाये है।"

और निशिकान्त 'न' नहीं कर सका। सखियों के साथ चलने की बात थी। वे आ चुकीं। निशिकान्त बैठा आगे, उर्मिला और सखियाँ पीछे। कुछ न कहते बना उससे, खुश हो सोचा—'यह उर्मिला भी कैसी लड़की है। कुछ कहना नहीं, ज़रा भौंह, हँस भर देती है।' और खेल शुरू हुआ। दिमाग़ी उर्मिला आगे रही, परदे पर आँखें विभोर हँसती हँसता।

उर्मिला की कल्पना और मन की माया का, पास की उर्मिला से मिला वह चौंका। व्यावहारिक चोट में आ गया वह अजान न जाने? उसी समय जैसे उर्मिला पान का बीड़ा बढ़ाती हुई कहने-सी लगा— "हाँ हाँ, हाँ!"

दूर से हट जब कभी आँखें उर्मिला पर पड़तीं, तो वह अपने को छिपाती नहीं। आज वह क्यों करे? अपने से!

छि छि छि!

और निशिकान्त विचारों में पड़, उस गहरा झुका दिया था सहन न कर नीचे गिरी हुई आँखों में कुछ ढूँढ लेना, जैसे छिपा था चित्र रहा हो, एक युवती का सा! उन आँखों में इतना वह डूब गया कि बैठना अच्छा न लगा। बस, चुपचाप उठा, और बाहर हाते के पार्क में आ सोचा—ज़िन्दगी जैसे कलेण्डर की एक तारीख रही हो जिसे फाड़ कर सारे कलम्ब को लिया, खुश हो जाना पड़ता हो। चुपचाप के हाथों में भूल जैसे उस अपना हो 'रूमाल' बनाने में एक गहरा रिश्ता पड़ा हो, और यह उर्मिला। सामने उर्मिला का चेहरा पर चौंका! उर्मिला ने देखा कि निशिकान्त पार्क में पत्थर की मूर्ति के पास चुपचाप खड़ा था।

ज़रा पास आ, झिझक कर उसने कहा— "अच्छा, ऐसे कोई बीच में ही भाग आता है?"

"बीच में ही?"

"और क्या तुम्हें यह न लगा कि तुम्हारे साथ और कोई है?

उर्मिला कहती गई—"मैं कुछ नहीं जानती, आपको चलना पड़ेगा।"

"लेकिन उर्मिला मैं कहता हूँ कि आज 'मूड' में नहीं हूँ। तुम जाओ, मैं न आ सकूँगा।"

और ज़रा वह पास आई। बीच में पत्थर की मूर्ति, और सशरीर उर्मिला! सामने हरी हरी घास, पार्श्व सिनेमा का बड़ा-सा मकान—एक मानवी दृश्य सा। बोली—"मेरी बुराई होगी।"

और निशिकान्त ने मूर्ति के सहारे खड़े हो, देखा—एक भोली नारी की छाया को गहरे धानी रंग की साड़ी में ज़रा खिली खिली, बिखरी बिखरी चेहरा वहीं पर पड़ी। उससे वह उलझने लगा, जैसे पत्थर की मूर्ति उर्मिला में बदल रही हो।

"ओ निशि मैं हूँ! मुझे देखो, लो, मैं तुम्हारे सामने हूँ!" फिर पीछे उर्मिला की हिलती साड़ी का छोर देख कर वह चौंक कर बोला—"मैं अब न जाऊँगा। ज़िन्दगी में कुछ ऐसा हुआ है कि पकड़ नहीं पाता। तुम आओ!"

ज़रा और सरक कर सिगरेट जलाई, और धुएँ को छोड़ कर कुछ सोचने लगा, मानो वह एक दार्शनिक की भाँति जीवन का सत्य मालूम कर लेगा।

खड़ी हुई उर्मिला ने सोचा—'कुछ अधिक बोलना ठीक नहीं है।' एक सम्मान का उभरा प्रश्न सामने आया। खुद ही फैसला किया, अधिक खुशामद क्या? कुछ बोली नहीं, चुपचाप छाया सी बढ़ कर अन्दर आई।

इस घटना के बाद ही यदि ज़िन्दगी का सूना स्वप्न टूटे, प्रश्न हो मिल जाता, तो ठीक होता। जैसे यह सब कुछ दाग़ काली रातों सा असफल और मौन सा शून्य हो। सिर्फ़ मन का हँसा सा तेज अपने को खोना ही जैसे होनहार है। यह होनहार वेदना का ऐसा मैला ज़ंजीर निशिकान्त में डाल गया है कि वह पकड़ नहीं पाता। जैसे सारा दुख अपने में समाय जमा रहेगा। फिर काम करते-करते निशिकान्त को लगता जैसे उर्मिला आई हो। गुलाबी हलके रंग के अम्बर में वह और भी खिला खिली है। अलग अलग 'स्केचेज़' और 'पोज़ेज़' से उसे मिलाता। पुराना 'डबल साइज़' और नई 'फुल साइज़' स्क्रीन की हँसती तारा से मिलाता, उर्मिला की हँसी भी ठीक इसी प्रकार की है। वह भी सहारा पाते ही प्रेमी की हँसी बिखरती थी। उसकी भी पकड़ से बाहर उलझन से दूर एक घनी बनाई भावना थी, और यह पोज़ कुछ बिखरे बिखरे बाल, खुले खुले अंग। नारी का एक पूरा उभार, निरी कोमलता। दूर पर उर्मिला कहती सी लगती हाँ, मेरी भावुकता पोज़ की कोमलता और तुम!'

एक दिन पढ़ने बैठा, तो लैम्प जल उठा, जल उठा पास के एक 'पोज़' को साथ में लिए। अन्धेरा में बुझाया तो बुझा नहीं। नीली साड़ी में ढँकी हुई एक नारी ओठों पर मलिन हँसी—एक धूप सी, गहरी गहरी, पसरी पसरी उससे देखा गया नहीं।

हाथ चले, और अब वह पोज़ आधा ही रह गया था। निशिकान्त ने सोचा, यह अधनंगा चित्र साथ अद्धा टँगा रहा है। नारी के मोह का क्या यही रूप है? मोह? वह रुका। उसने उर्मिला को भ्रम में डाल क्या मोह नहीं फँसाया? सिनेमा से उठ, उसे धोखा दे क्या वह कर्त्तव्य निभा चुका?

ज़रा लेटा, तो पास का चित्र जैसे कहने लगा—"उर्मिला, उर्मिला!"

और फिर

"मैं जला मैं जली !"

फिर फिर ?

घटना उभर उभर आने लगी।

फिर कब उसके छोटे भाई ने अपने आप उसके बुने हुये 'पुलोवर' को पहिन लिया था। और उसे देख ज़रा उग्र, गुस्से से जल वह कमरे से बाहर कान पकड़ घसीटता सा लाई थी, कहती कहती— 'ले, और पहिनेगा ऐसे तेरे हाथ सिये तो बुने हो।' बच्चा कुछ न बोला। दालान पार कर चला तो निशिकान्त को पा कुछ झेंपती सी हँस, ज़रा साड़ी को सँभाल अन्दर को जाने को। जैसे वह उसे कुछ समझ न ले।

और निशिकान्त ने सोचा—'क्या वह उर्मिला को कभी भी भूल सकेगा? नारी की भावनाओं से उर्मिला की पकड़ से दूर हो क्या वह बढ़ सकेगा कहीं?' 'पुलोवर' का सहारा पा वह उर्मिला, नारी खूब हँसा। अपने से ही रात और हँस कर, झट कर जैसे वह एक पहेली ही बनी रहेगा। बस!

कुरसी खींच बैठा, तो उर्मिला साड़ी बदल मढ़ दो एक ओर से हँसती हुई आई और हाथ बढ़ा ज़रा एक पान की तश्तरी मेज़ पर रख कमरे से बाहर हो गई। लाता उर्मिला को पारदर्शी आँखों ने बहुत दूर पहुँचाया। एक उलझन की बात उठी। उर्मिला गुस्सा क्या उसके मन में पैठा वहीं अटक रहा। वहीं कटक मगाध भर गई मन में बात खुद में खो गई। कुछ समझ में न आया। और शीशे के उस पार खड़ी हुई उर्मिला ने देखा—निशिकान्त बैठा हुआ कुछ सोच रहा है। यह खोयापन उसे कुछ महत्व से हटाता ज़्यादा भला नहीं लगा। मन दुभाव का बहाना था, वह पूरा उतरा। देखा कि निशिकान्त हाथ बढ़ा, पान उठा, मुँह में रख ज़रा अपने में आ भर गया है।

और कमरे में बैठे निशिकान्त ने सोचा, यह उर्मिला पान में अधिक चूना क्यों लगा लाई? क्या यही उसे देना था? वह उठा, और पान थूक, उसे फेंक सिगरेट जला, उसमें खो, सोचा—'यह सुन्दर नारी कब तक उसके मन से खेलती रहेगी? या उसमें बैठी लुका छिपी करता, एक रहस्यपूर्ण गृहस्थी जुगाता दूर दूर छाया की भाँति हँसती—भागती !'

उर्मिला की बन आई।

देखा, पान फेंक दिया। हँस, हाथ में 'पुलोवर' ले ज़रा गहरी आँखें घुमाता सामने आई।

हँस पा निशिकान्त चौंका, फिर ज़रा सँभल कर पूछा—"प्रेम से खिलवाड़ करना कब से सीखा?"

और उत्तर मिला—"जब से प्रेमी ज़रा से कष्ट को न सह, याद हर, किसी को भूल, विश्वास खोने लगे !"

बस, आगे कुछ पूछना आवश्यक न लगा। चुप हो उर्मिला खड़ी रही। सोचा, जो कुछ उसने पूछा है वही क्या कम है, जो और पूछ मन को हलका करे। अपनी गलती इस रीती जगह में फैला पाई उसने। पान का सहारा पकड़, चूने का ओट में वह बाहर बाहर आना जाना चाहती थी। अपने मखौल से अब, खूब सबर बन वह सौंप गई उसे। अब उसने पाया, यदि वह पान खा ही लेता, तो क्या

नीचे पैरों दो चार फन्दे डाल, वह बोली—"मैंने तो जाना था, आप उसे खा ही लेंगे !"

"मैं !"

"पर उसे फेंक, जैसे आपने एक उलझन में पीछा छुड़ाया हो क्यों ?"

और निशिकान्त उसे कैसे समझावे ?

आज उसका जी एक भीतरी वेदना से लबालब भर गया। उर्मिला के आगे वह जीत सकता नहीं। बल्कि ज़रा दब, झुक, और भी पीड़ा से ऐसा हो जाता है जैसे पीड़ा फट बाहर आना ही चाहती हो।

'ज़िन्दगी में पीछा छुड़ाना पाप है। मैं उसे कैसे पा सकता हूँ। और यह जो दूर-दूर एक रोमांस है, वह क्या ऐसा ही काला काला रहेगा ?"

और उर्मिला कट गई हो जैसे।

फिर हाथ का पुलोवर ले, उसमें उलझ सोचा—'ज़िन्दगी ठीक ठाक क्या ऐसी ही बीत जायेगी ? और यह निशि क्या कभी भी न सोचेगा कि मैं कौन हूँ ?' निशिकान्त ने मन बँधा पूछा—"कितने में 'पुलोवर' बन जाता है ?"

उत्तर मिला—"आजकल ऊन का क्या भाव है ?"

और निशिकान्त ने कहा—"ऊन कई तरह का होता है। गुच्छों से अच्छी बन, नन्हीं नन्हीं अँगुलियों से खेल, रंग बिरंगी में आ वह उलझ भर आता है। उसकी भी कहानी होती है। फिर लाल इमली के ट्रेड मार्क से क्या होता है ? धारावाल और बाम्बे ऊलन मिल्स का ऊन अधिक बिक, 'पुलोवर' के बहाने किसी के पास पहुँच, किसी व्यावहारिक प्रश्न को सुलझा, किसी की गहरी याद बन रह जाता है।"

'व्यावहारिक प्रश्न एक याद सा ' यह सब वह क्या करे ? न कोई झगड़ा था, न उसने सुना ! बात खरी लगी। ज़रा उलझी बातों को छिपा गई। उतरी नहीं। बहाना बुरा नहीं। फिर चौंक उठी, साड़ी

कहता—"घर आगरे से आ या हुआ ताजमहल ना दिखाया हो नहीं, माफ़ करना। ज़रा चूक गयी हूँ।"

'गुस्ताख' रस अच्छा गई। फिर उसे ले हँसते हँसता गई। मेज़ पर जला बोली—'निशा महारे में लाई था। बड़ा सु दर है!'

द्वेष निशिकान्त के मन में घमघाते घाव उठा, वह इस दिलशाबाद को मैं का क्या करे? दिलशहज़ाद! हूँ ठीक हो ता ... लगा। उर्मिला भी ता दिल का कह रही है। यह उस महल में अपने का तुला, उसे तू ज़रा पास आना चाहती है। मानो दुःख का बहाना था कर उस उर्मिला से कहा—"मैं गया हूँ, ? फि यहा यह एक जलगयचोर है! देखो पलन से पाकर उस नए मन ...।" चार पान रख हुआ पत्थर का ताजमहल जैसे हिला, हिला और नाचे गिर कुछ निर्जीव टुकड़ों में परिणत हो गया।

अब निशिकान्त चौंका—ज़रा समझा तो देखा उर्मिला ने मेज़पर से ... चौंक, ठीक शिष्टाचार में ला बराबर रख लिया था।

एक बार था। वह निशा स्वप्निल कुछ कहने न बना। ज़रा सा मुस्करा लिया, अपने को खो, उसने सोचा—जैसे आज वह इस ताजमहल का साथ पंग लगा!

उर्मिला की आँख ताजमहल पर लिखा। फिर ज़रा बैठे हुवे निशिकान्त पर गई। वह उठा धीरे धारे, यह ताजमहल का गुम्बद हो क्यों टूटा? यही, यहा जो सम्पूर्ण ताजमहल को लिखा रहा था। और असल रूता पड़ योगा ना 'मुमताज़' की छपाजी कुछ! इसमें नाई दिल का कहा ... ना! निशिकान्त पर गुस्सा आया। दिखाने की उलझन था।

और निशिकान्त ने अपने को मुस्कराते हुए कहा—"पुरुष अपनी वासना छोड़ जाता है। एक घोंसले में टिके मन पर, सारा ज़िन्दगी निभा—तू न बाँट जाता है, ताकि यह घोंसला टूट नहीं। नहीं तो टूटे।

आगरे में बहुत अच्छे 'ताजमहल' मिलते हैं।"

उर्मिला बोली—'ये आपको ही मुबारक हो!'

और निशिकान्त ज़रा सामाना बोला—"मुमताज़ खूब सुन्दर रही होगी! उसका खुला मुक्त मुसलमानी सभ्यता में डूबी हुआ आँखों से शाहजहाँ उलझ गया था। सिवा मुमताज़ के उसके वा से और कोई सज़ा भी था। ... इसी का सफ़र पूरा करते करते वह क्षणिक अच्छा था। और तभी जैसे मुमताज़ में अपने को पाया, और वह बादशाह मन का हो गया था।

मन का?

बात फैली—यह भी तो मन का है ! ज़रा उर्मिला से उलझ गया है। और मुमताज़ ? वह कल्पना में कैसी डूबी सुन्दरी शलवार से ढँकी ज़रा खुले-खुले बाल नाले फीते से बँधे। तभी दूर जैसे उर्मिला मुमताज़ से लग कहने-सी लगी, 'ज़िन्दगी एक स्वप्न है। वह बादशाह था, बात निभा ली। पर हम अपने बाहर क्या यादगार रखें ?''

ज़रा और बोली—'जैसे मेरा भी ताजमहल बनवाओगे ! बोलो ! यह तुम कहते हो निशि !' और निशिकान्त ने धीरे से हामी भरी। जैसे हामी भर वह अपने उत्तरदायित्व से अलग रास्ता बना लेगा।

'यादगार रखना एक ज़रूरत है' जैसे वह एक हलकी याद में आ भूल कर कला की चाह ही अपना रूप ले लेती हो।'

और उर्मिला उन पत्थर के टुकड़ों में खूब झगड़ी थी। उन्हें उठा बाहर फेंक गई। गई और फिर न आई।

निशिकान्त शाम को उठा, तो उर्मिला का छोटा भाई सामने पड़ गया। चटपट पूछा—"तेरी दीदी कहाँ है ?"

और उसने सुनाया कि दीदी उर्मिला शान्ति के साथ सिनेमा गई है।

बस, फिर कुछ पूछा नहीं। सोचा, वह उर्मिला आज अकेली क्यों गई ? ज़रा पास के चित्र पर आँखें गिरीं, वह चिल्लाने सा लगा—उर्मिला, उर्मिला !

निशिकान्त घबरा गया। उठा, और आलमारी खोल मनीबेग निकाल, कोट पहिन चल दिया।

लान की पत्थर की मूर्ति के पास आ देखा, खेल शुरू हो चुका था। कुछ जाते न बना। एक गहरी याद कुहरा सी छायी रही। चुपचाप झुक, सिगरेट जला, मूर्ति से लग, अपने में खो गया। पास लम्बे लम्बे हाथ सुडौल चिट्टा शरीर निरा पापाण जैसे वह पत्थर की मूर्ति सुना रही हो कि मैं हूँ नारी। वही, वही जो तुम्हारे अन्दर ज़रा बिखरी बिखरी है। आगे दिमाग़ में उर्मिला का खाका आया। तभी जैसे किसी ने उस मूर्ति में प्राण भर दिये हों, कहने लगी—'मैं उर्मिला हूँ, उर्मिला !' फिर सारी कोमलता में सजीवता का वास आ जैसे वह पत्थर की उर्मिला अपने दोनों हाथ फैला बोली—'मैं हूँ ओ निशि ! तुम डरो मत, मुझे लो।' और उस स्तब्ध भ्रम के आमन्त्रण को निशिकान्त अस्वीकार न कर सका। बढ़ा ! ज़रा और बढ़ा। फिर उस मूर्ति को हाथों में समेटे खड़ा रहा कि ध्यान भग किसी ने ठेले [illegible] को न पा वह मूर्ति से और भी सट चिपटा जैसे वह [illegible] है। धीरे धीरे बोला—"उर्मिला, उर्मिला !

असह्य भार

और यह कर भी तो क्या ? मन उसके है, हृदय भी है। उसमें ज़रा सी याद भी सिरजी है। वह याद, वह निकाले बैन कि उसने कहा था कि—अचला, देखो, ज़रा अपने को समझ लो, मैं और कुछ चाहता नहीं। केवल तुम्हें तुम्हारा ज्ञान भर कराना चाहता हूँ। तुम नारी हो। स्वामी का विरोध दुख धाराओं का समेगी। और फिर भी क्या उससे पृथक रह सकोगी ?

यही होनहार है। यही विधि का विधान है। और अचला ने अपने को समझा तनिक अपने मन में लग पाया—वह नारी है। ठीक, स्वामी उसे चाहिये। प्यार की भूख है उसमें। पर वह क्या उससे सन्तुष्ट हो सकता। और सुनील ? वह स्वयम् है सुन्दर है, अपनी भावुकता में दबा है। पर उसका स्वामी उससे पृथक होगा—सुनील की धारणा से बहुत दूर। शायद उससे अधिक मज़बूत सुन्दर भी।

वह एक स्वचालित गति में चूक जाता है। उसका चूक मन की लकीरों के मार्ग से दब बाहर होना चाहता नहीं है। ये लकीरें सुनील पर खुली हैं। वह उसे क्या कर कि लकीरें कुछ मलिन हो उठती हैं। जैसे सुनील उसे नहला धुला कर उन्हीं लकीरों में अपना अस्तित्व घुला देगा और जैसे वह हँस कहीं सहेगा !

एक सन्ध्या को उसने स्वामी का हाथ पकड़ा था। उस समय उसे क्या पता था कि सच ही तो वह स्वामी बातों बातों का हो उसे अपना न सकेगा। उसी की भूलों में फँस, एक सीमित दायरे में आ वह केवल नारी भर रह जायेगी। सुनील दिन भर आया नहीं, उसका मौन गहरा गढ़। अताचा अब क्यों कर और कहाँ तक ? उसका जी उसे देखने को हो रहा था। वह धार से तनिक उसके आ से लग हँस, मुस्करा कर रिझाना भर चाहता था—'या, सुनो तो नाराज़ न होना। मैं अपने में बँधी हूँ। मेरी यह विवशता परमात्मा की देन है। तुम्हें समेटना चाहने पर भी समेट पाई नहीं। मैं नारी भी हूँ। स्वामी का ख्याल कहाँ मुझे तुम तक आने देता है। पर मैं कहूँगी कुछ नहीं। मेरा मन तुम्हीं में रमा रहता है। चाहती हूँ कि तुम में बँधा रहूँ।'

शाम को सुनील आता हुआ दिखाई दिया—कुछ भारी भारी सा। अपने में

छुआ धरा पुरुष ! और वह उससे कहाँ कह पाती थी—'स्वामी' और उस दिन वह कुछ बोली नहीं। केवल चुपचाप खड़ी रही, कुछ दबी दबी। सुनाल की बातें वह निभायेगी। लेकिन ! सुनाल पास बैठा था। उसकी अनजानी छाया को वह बाँधेगी।

और कल ? उसका स्वामी इससे अधिक रोमैन्टिक होगा। लगा—वह स्वामी अधूरी यादों का पुतला मात्र है, एक महान् अतीत का बाहरी खाका सा। वह स्वामी बस अच्छा लगता है नहीं। अधिकारों और अनुरोधों के बीच की गहरी खाई को वह भाँप भर गई थी, कि सुनील बोला—'रात भर नींद आई नहीं है। रह रह लगता रहा, मानो कोई मुझसे मेरी कला माँग रहा है। एलवजयण्डर-पुश्किन के स्कूल का एक कहानी लिख रहा हूँ। आज उसका दूसरा भाग समाप्त हुआ है। यह कहानी अपने जीवन का एक जीवित भाग है। एक अरसे का अनुभव उसमें रख चुका हूँ, बस आज ही समाप्त करना है।'

और अचला न देखा, नींद भरी आँखों से वह ताक गई। सामने एक काग़ज़ों का बण्डल रखा था।

उसने उसकी बहुत सी कहानियाँ 'पेपर' की हैं। दिन दिन भर, रात रात भी वह उसके पेन्सिल से लिखे हुये काग़ज़ों को सँवारती रही है। तभी, कभी कभी उसने उसे समाप भी पाया है। घर के एक कोने में तभी उसने कुछ पाया टिक कर सुनाल के विषय में अपनी धारणायें बनाई हैं। बस वह भाता रहा है। घर से लगा हुआ है, उसका घर, उसी में उसने सुनाल को पहिचाना है। उसकी भोली भाली छाया को पढ़ा है। और वह भी तो युवक है। उसको भी कहीं, किसी का सहारा पकड़ टिक जाने की ज़रूरत मालूम पड़ती होगी। कहानियों को साफ़ करते करते वह अटक कर सोचती सी पाती कि सुनील भावुक है। उससे बोल पाता नहीं, इसी से कहानियों का सहारा पकड़ा है। सुनाल उसे सुझाता—'मैं अपने जीवन में जा चुका हूँ। अब कुछ करने का जी करता नहीं है। और यह कहानी भी तो तुम्हें समाप्त करना है। तुम्हारी अनबूझी के सामने मैं झुक जाता हूँ। बस ऐसे कभी कभी लगता है, जैसे मैं तुम्हारे निकट अपना ममत्व छोड़ जाता हूँ, जैसे तुम में अटक अपना दूसरा ही भर मैं पाता हूँ।

पर वह कुछ कहती न थी। चुपचाप हँसी हँसी में अपनी मैं या मेज़ पर झुक उसने काग़ज़ सँवारा करती। फिर उन्हें साफ़ करने में लग जाती। भावों के प्रवाह में वह भी बही थी। उसकी मनचली वदनाओं को उसने भी समझा था।

और वह कुछ बिखरा हुआ सुनाल स्टोव पर केतली । फिर उसे

प्याले में उँडेल अचला के सामने रख धीरे से कहता "लो, अचला! यह चाय मुझे बनाना आता नहीं है इसलिये देने में हिचकता हूँ। तुमसे कुछ कह सुन लेता हूँ। फिर भी बिना दिये जी भरता नहीं है। और तुम को यह क्यों अच्छी लगेगी?' और अचला हँस कर कहती— 'चाय का सहारा खूब पकड़ा है। और क्या तुमको यह नहीं लगा कि अचला का मन एक डोर में बँधा है। वह डोर अपने से हट कुछ एक के लिये कहानी लेखकों का मन सा देता है। कभी कभी तुम्हें बहका हुआ पाया है पर कह सका नहीं। और तुम्हारी चाय में क्या खूब है! बिना मैंने पाली नहीं। कुत्ते से भी मुझे अधिक प्रेम नहीं है। मैं हूँ अकेला! तुम्हें देख कर कुछ सोच भर लेता हूँ। उस दिन जाजा से कह दिया था— यदि तुम्हें सुनाऊँ का चाय मिल जाय तो।'

वह प्याली उसके आगे से लगा देता। और वह अबोल कुछ भरी भरी सारा कुछ बोलती नहीं। केवल ज़रा सा हँस, मुँह बिचका कर उस पी जाती, फिर वहाँ कहानियों पर आँखें टिक जातीं।

और गाड़ी आगे बढ़ रही थी। किसी मन की गहराई से तो उसने उससे सम्बन्ध जोड़ा है नहीं। एक वैवाहिक कार्य में वह स्वयं चूक चुका है। वह अपने में लगा उसस डरा था कि भाग्य के पलड़े में था उस उसको स्वामी मान लेना पड़ा। अपने से एक पृथक रूप में वह उन कहाँ देख सका था। उसने सुना था कि उसका स्वामी काली मूछों से लदा है। उसकी दुनिया में रह, देख, कह सुन कर क्या वह उसे निभा न सकेगा? एम० ए० में फर्स्ट आये हैं, और वह क्या उसके लिये कम गौरव की बात है? फिर शादी के बाद वह उसे लिवा गये थे।

गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी।

सामने से उसका स्वामी हँसता हुआ, घूम कर चला गया। सुन्दर वह है। काफ़ी 'मिलिटाइज़्ड' भी। फिर भी वह अपने को कैसे समझावे। वह उससे छू कर क्या कहे-सुने। अपनी सारी बातों को समझाने के लिये वह आय कहाँ! और एक सुनाऊ? एक रोमांस बना उसके पास मैना भर रहा है। वह उस रूप पर चुका है। उसका स्वामी—और उस-जैसा खिला खिला युवक! सारी कहानियों में उसकी सँवारी हुई पहिचान भरी है। उसने कहा था— चलो, आज उपन्यास समाप्त हो चुका है। तुम्हें उसका अन्तिम अध्याय दिखाने आया हूँ।' और भारी भारी आँखों की सफेद पुतलियों में एक अपनत्व की छाया ला कर वह दूर ताक रही।

लेकिन यह जाय भी तो कैसे उसके साथ?

रात ही को तो उसे एक अनजाने युवक को स्वामी मान लेना है। अपनी उलझन

में वह खुद ही बँधी है। और क्या यह लाल साड़ी देख कर भी वह नहीं समझ सका है ? पैरों में महावर भा तो उसने लगाया है, और हाथों में भी ! फिर भी तो वह अनजान है। और मेंहदी के दाग !

हाय वह जाय कैसे ? मानो वह उसे सुझाना चाहती हो कि ओ सुनील ! तुम हो बड़े भावुक कहानीकार भी ! फिर भी मुझे समझ सके ? मुझे खोलने की ज़रूरत ही न समझी। और मैं कैसे कहूँ, मैं भी नारी हूँ जो क्या कहीं भी कुछ कहती है ?

पर वह न माना था।

उसने उसे समझाया था, उसके पास अपनी टिका थकी स्मृतियाँ बुझाना भर चाहता था। वह आज उसे क्य कह दे। उसकी अपनी वेदना में वह उसे क्या समझा दे ? वह कहानी लेखक है। उसने बहुत सी 'कैगरट्रीफी' लिखी है। और और मन के पास ही उसने सभी किसी को तौला भर था। किन्तु अचला ठीक तो है। उसने उसे जाना है। रूठी हुई आँखों से उस हँसाया है। पर जैसे अब यह सारा टूटना टूटना भर चाहता हो। यही होनहार है।

कमरे की शाखे लगी हुई बड़ी बड़ी आलमारियों के अन्दर जैसे उसकी चीख पड़ती हो। वह कमरे में खड़ी था। सामने मेज़ पर रात को देर तक लिखते के कागज़ पड़े थे जैसे वह सोया नहीं कि वह बोली—"मुझे कुछ लगता नहीं है। तुम भले हो। और इतना क्यों लिखते हो स्वास्थ्य कहीं खराब !" फिर उसने उपन्यासों के कागज़ों को सीरियल से लगाया, सुनील के उपन्यास का वह मैनुस्क्रप्ट था। वह कुछ बोला या नहीं। केवल सामने मेज़ पर बैठ कुछ सोचता भर रहा था। कि गाड़ी एक जकशन पर खड़ी थी।

सुनील में कितना आकर्षण है। वह 'थ्रिलिंग' का दीवार बना उसके मन के आँगन में खड़ा हो गया।

और स्वामी सामने के सीट पर बैठ था। जीवन और समाज की परतों के बीच में उसने उसे सामने ही तो पाया था। पर उसे कहाँ कह पाई थी कि सुनील मैं तुम से लग सकूँगी नहीं। भावुक तुम हो। अपनी कल्पना से मेरा निर्माण कर लेते हो। मुझे मन में पास जान, अपने में खींच, तनिक हँस, मुस्करा कर कह लेते होगे कि मैं पुरुष हूँ—तुम्हारी छाया में खो जाना भर चाहता हूँ ! पर तुम क्या जानो कि समाज से तुम्हें धर सकूँगी नहीं। और तुम स्वय में मुझे कहानियों में ढाला क्या

उसका आ गया। निकट की खिड़की पकड़ सा झिझक लेना भर चाहता हो कि मैं तुम्हारा

पहचान का अधिकार भी रखता हूँ। पर तुम बोलती क्यों नहीं। तुम्हारी आँखों की सुधा के आगे मैं चुप रहना चाहता नहीं। और तुम क्या प्रमों हो वैसी रहोगी ऐसा हो ?

वह बोला—"लेट ही जाइये ! आप थक गई होंगी। अभी स्टेशन काफ़ी दूर है। उसका अनुरोध ! स्वामी वह है। प्यार भी करे शायद ! उसे मनाने भी ! वह तक नहीं भी कर सकता था। वह जान में उसे बाँधे हैम ! अपने में घुला हुआ सारा था वह। और वह क्या कहे ? अचला चुप, मुस्करा कर, झेंप कर, सकुचा कर ज़रा खिसक भर गई, जैसे यही उसका नियम था। स्वामी इलस्ट्रेटेड वीकली का पहला हल कर रहा था। भरे गोरे चेहरे पर सुनहरी कमानी का चश्मा और वह क्या सुनील से भी अधिक उसके पास आ गया था। फिर भी सुनील को वह भूले कैसे ? उसमें ज़रा रूखा हो ता पड़ा है। बहुत सा समझा तो कर वह उसे निकट पा सकी थी। कई बार की झिड़की में वह उस भाँप गई था।

उसका सब से निराला रूप सामने था।

"तुम ने मुझे इतना सहज, भावुक और कलाकार क्यों बना दिया—अचला !"

बहुत दिनों तक वह इसका उत्तर न दे पाई सोच रही थी।

फिर वह एक बार घर गई था। सुनील को जो मालूम हुआ तो उसने एक पत्र के साथ कुछ पुस्तकें भेज दीं। पत्र इस प्रकार था—

'अचला !

× × तुम्हें सदा इस रूप में।

और तुम तो बस निराली हो। मैं तुम्हें 'तुम' कहने का अधिकार रखता कहाँ ? फिर भी तुम्हें समझा है। विश्व में इतना ऊँचा बढ़ गया हूँ कि अपने को भी भूला जा रहा हूँ। तुम्हारी भोली छाया को पकड़ मैं जो कुछ हो सका हूँ, उसी की पाँच प्रतियाँ भेज रहा हूँ। उन्हें शाम को ठीक से पढ़ लेना अच्छा !

और एक पत्र अपने स्वामी का भी। फिर कभी मिलूँगा क्षमा करना !

तुम्हारा,

—सुनील।'

कि विचार टूट गये।

सुनील ज़रा हँस, सकुचा कर पीछे हट गया। कुली बिस्तर का बण्डल उठा कर स्टेशन पर रख रहा था। यहीं उन्हें उतरना था। मन के पीछे सुनील था और स्वामी ! उसने कहा था—मन में मुझे आश्रय देना, चाहे बाहर तुम मुझे मत रखना मैं रहना चाहता भी नहीं हूँ। पर सुनील को वह भूले कैसे ? और उसका स्वामी ! सुनील से कम प्यारा भए !

स्नेह जगा। चाय बनी। और तभी उसकी धुँधली रोशनी में उसके स्वामी ने बुकशेल्फ में रखा हुआ उपन्यास देखा। बड़ी रात बीते जब वह सो गई, तब उसका स्वामी चुपके से उपन्यास उठा, ऊपर के कमरे में जा लेट गया।

और उपन्यास अन्दर समर्पण था। उसके बाद एक भावुक चित्र—बिखरे बिखरे बालों में एक पहिचानी हुई युवती! चित्र कुछ कह-सुन चुका था। लगा, उसने उसे कहीं देखा भर है जैसे वह बताना भर चाहता हो कि तुम मुझे व्यर्थ ही में ब्याह कर घर लाये मैं तो सुनील की हूँ। उसके नेत्रों के निकट और जी के पास हूँ जैसे वह अपने में स्वामित्व की रेखायें भी छोड़ना जानती हो। बहुत आगे वह पहुँच गई थी।

दूसरे सवेरे उसका स्वामी उससे कुछ बोला नहीं। केवल उपन्यास पढ़ने में तल्लीन रहा। अचला ने कई बार अनुभव किया कि उपन्यास पढ़ते पढ़ते उसका स्वामी कभी आँसू पोंछ कुछ हँस कर सोचने लगता था।

चार शाम को उसका स्वामी बड़ी देर तक घर आया नहीं। अचला मुँदी ढँकी धरी भरी बैठी भर रही कि उसे याद आया कि उसका स्वामी गई रात को बड़ी देर तक पत्र लिख रहा था। खोजा, तो उसने पाया—

'सुनील की तुम!

'तुम्हें समझ सका नहीं। मैं भी पुरुष था। किसी को निकट देख कर पढ़ना भर चाहता था। फिर भी अलग अलग हटा रहा। तुम एक कहानी लेखक की आँखों में बैठी हो, हँसी हो। मधुरता के रंग में रंगी हो। तुम्हारा निर्माण कल्पना से हुआ है। और मैं कैसे तुम्हें समझ सकूँगा। तुम ठहरीं नारी। तुम्हारा चित्र जभी उपन्यास में देखा, साथ ही सूखा समर्पण भी। सोचा—'यदि मैं तुम्हें मन से लगा सका होता! पर मैं तुम्हें धोखा दूँगा नहीं। तुम्हारे योग्य भी मैं हूँ नहीं।

मुझे क्षमा करना!

'तुम्हारा भार ले कर मैं चल सकूँगा नहीं, इसलिये अलग अलग जा रहा हूँ।

'तुम्हारा जो चाहे तो सुनील के पास चली जाना। मुझे भूल जाना, अचला!

—तुम्हारा स्वामी।'

फिर कभी उसका स्वामी आया या नहीं, कौन जाने? परसों सिनेमा गया था। तभी सुनील मिला था। मिलते ही उसने अपने उपन्यास की एक प्रति दी—और यह असह्य भार उसी का ही तो एक अध्याय है न!

नीलम

नीलम उठी; चाहा कि जो पीड़ा उसके मन में एक कोने में छिपी है, कह दे निःसंकोच। निःसंकोच और यह कि कुमुद, क्या अपने इस विवाद का कारण भाग्य को साबित कर देना है? और फिर दूर-दूर [illegible] का जो [illegible] ऐसे जीना है, यह क्या सच ही सुख है? पर बोला नहीं। मुस्कान [illegible] रह गई; मुस्कान छाया में [illegible] भर!

यह सारी बात कुमुद को सोचने में बाँध नहीं पाती है। नीलम पर हर कुमुद अपने को अधूरा पाता है। उस अधूरेपन में जो एक गहराई है उसे वह कहाँ रखे! कुछ दिनों की [illegible] आँखों आँखों में था [illegible] कह आती हो कि कुमुद, तुम्हें इतना कम समझ पाती हूँ, इसी से दूर-दूर अपना रास्ता बनाए रही हूँ। फिर आ[illegible]!

आगे विचार चलता नहीं।

नीलम का [illegible] कहना कि मैं नारी हूँ, जिम्मेदारी का एक बड़ा हिस्सा मैंने लिया है। उसी में किसी को समझा हुआ, हँसाया करती हूँ। बात टूटी; कुमुद ने नीलम की ओर [illegible] कहा—"इलाज पर कुछ लिखा था। ज़रा ध्यान का [illegible] कर दीजियेगा।" और ऊपर लिखा—"आजकल आप इलाज [illegible] कर रही हैं!"

नीलम रुक गई।

मुँह और, हँसी को [illegible] से गढ़ गई। [illegible], यह जो सामने कुमुद नाम का पुरुष है, वह इतना साफ़ क्यों कह देता है! और यह क्या तुम नहीं समझता है कि नीलम [illegible] का बोझ उसी के लिए ढो [illegible] रही है?

बात कहने को था। नीलम को रुख लगी।

और यह सारे क्या! सब [illegible] जो कुमुद कह रहा है। कुछ दिनों में जब यह गृहस्थी से छूट, घर से विदा हो, इलाज के लिए जायगा, तब क्या कुमुद का [illegible] ऐसी ही रहेगी?

पर [illegible] नीलम के बारे में जो भ्रम का रूप कुमुद के मन में बन गया है, उसे वह मिटा नहीं पाता है। हाँ, कभी उसने सोचा था कि नीलम उसे भली लगती है। जो क्षमा की ज़रूरत उसे [illegible] आ रहा है, वह नीलम में पूरी उतरी है। ज़रा हँसी से, भरे गोल-गोल मुँह में उसे साबित क्यों रखे! आते ही एक

उल्लास बिखेर नीलम को वह क्या माने ? आनंद की रंगीन साड़ियों का सहारा ले, सावन में घूम, अलबेलों का पुजिन्दा हिला कहती कल आऊँगी। अच्छा कल! वह सुन्दर भागती हुई नीलम क्या कल्पना में जीवन नहीं दे जाती ? यह सब कुमुद को लगा है।

नीलम अपने में ज़रा चूक जाता है। जो स्वामी का अभाव उसने अपनाया है, उससे उसका जी बुरा नहीं है। उसकी इच्छा है कि स्वामी से भी आगे 'कुछ' हो। वह 'कुछ' की बात वह सोचती है। इसी भावना से बनी हुई नीलम आज कुमुद को बहुत बहुत उलझा देती है।

उस बार ऐसे ही कुमुद ने उसे देखा था। तब वह अपने किसी निकट सम्बन्धी के पास आई थी। तभी सब कुछ समझा चुका, मन के पास आ जम चला थी।

बातें उलझना ही चला गई थीं।

और जब सुलझीं, तब पाया कि वह नीलम नाम की सुन्दर, भरी भरी नारी में आ अटका है। वैसे ही कभी वह उसके भाई का देखने घर गया था। उसका भाई है। तनिक बीमारी से लगा, और यह बीमारी की बात नीलम के मन में बेचैनी भर गई है। खूब छटपटा रहा वह उसे निकाले कैसे ? कुछ बैठा, तो सामने नीलम आई। मेवा का थाली में ऊपर, वह तिलमिला कर बोला—"कुछ लाइयेगा ?"

उसका भाई कुछ बोला नहीं, और वह समझदार नीलम जैसे सब कुछ समझ गई हो। गई, फिर एक तश्तरी में कुछ जमा, बाहर का आँगन पार कर ऊपर की सीढ़ी पर आई। तभी कुमुद के मन में अनजाने बात उगी थी कि यह नीलम क्या है, जो वह उसे समझ नहीं पाता है ?

फिर उसके संशोधन की याद आई थी, और अब उसकी कहानियों को ठीक करते समय, जैसे नीलम अपने से बाहर बाहर हो लकीरों में आ, हँस, भँवर, कह जाती हो कि हाँ कुमुद; स्वागत गात ठीक कर देना। और देखो, कहीं स्वयं को ठीक न कर बैठना।

उसके छोटे-छोटे शृंगार-भर शब्दों से लगी लगा लाइनें और उनका चित्रण! नीलम कुछ सुझा जाती। बहुत पुरानी बात नहीं, बिलकुल नई, अपनी ही बाँके से लदी लदी भर, जैसे उनके मध्य की रेखाओं में उतर, ज़रा पास आ, मिल हँस जाना चाहती हो। और कुमुद को लगता, उसमें एक आवरण फिर से स्थान बना चला है। वह उसकी बात सोचे कैसे ?

नारी की बात—नीलम की बात !

सन्ध्या को नीलम आई थी। कुमुद को पा अपने को भूल गई। फिर सँभल, गम्भीरता में भी मज़ाक से बोली—"किसी की शादी हो, और किसी को मिठाई भी न मिले! भाई वाह!"

और कुमुद चिल्लाया—"नीलम!"

"हाँ, कमला के साथ! मुझसे भी अधिक सुन्दर रही होगी! है, न!"

'नीलम!'

नीलम चुप थी।

आज शादी की बात एक दुःख से कर जो उसके चारों ओर उड़ रही थी, वह कमला की ही इच्छा रही होगी। और उससे पृथक् हो नीलम ने अपने को इमारत में यों सूना पाया। दरवाज़ा पर बैठा रहा चुपचाप कुछ सोचता सोचता सा।

और कुमुद बोला भी—'नीलम, भविष्य का मनोज्ञ उषा ज़रा रश्मों से लग हम क्या नहीं करते हैं? प्यार शादी और सब कुछ भी!'

नीलम ने बात काट कर कहा था— अपना संसार बसा लेने के बाद दुःख होता है कुमुद! नारी चाहती है कि उसका दुःख सीमित न रहे। वह आगे बढ़े ज़रूर! चाहे वह दुःख अधूरा ही हो पर रुके नहीं। जिन्दगी में रुकना पाप है और चलते रहना ही पुण्य।'

यह कमला नाम की नारी नीलम के सहारे कुछ दिखी दिखा हो उठी थी। पहले ही बातों बातों में कभी उसका नाम भी आ चुका था, और उसकी सुन्दरता की परिभाषा में रंग लाने को नीलम से हारी मान चुकी थी।

कुछ दिनों के बाद नीलम बहुत गम्भीर मज़ाक करने लगी थी। अपने उत्तरदायित्व हट, वह मज़ाक कुछ बुरा भद्दा ही लगता था। हाँ नीलम का एक भरा भरा रूप उसमें बाहर ही रह जाता था। हँसी को रोक फिर नीलम बोली थी—"नाम भी तो मिलते ही हैं, पढ़ी लिखी भी। प्यार कुमुद, और वह कमला। 'क', 'क' का वर्ग!"

आगे नीलम हँस पड़ा।

हँसता ही रही, जैसे हँसता रहेगी।

कुमुद नीलम के सामने गम्भीरता में थक जाता है। और वह चाहता है कि उसको वह थकान उसे दुःख न दे। चाहे मज़ाक वह भले ही न करे। और पढ़ा लिखा नीलम का मज़ाक घर कर गया। उसने सोचा—यह जो पास बैठा नीलम में समाई नारी है, वह इतनी गम्भीर क्यों है जरा हँसी हँसी में भी दार्शनिकता से भाग, नीलम भी रह जायगी। नीलम कमला!

और ?

नीलम ! नीलम ! नीलम !

जैसे नीलम में नीलम है।

फिर कभी माँ ने उसके स्वामी के पास जाने की बात सुनाई थी।

स्वामी ?

कुमुद खूब वेदना से भर गया था।

नीलम का स्वामी भी है। ज़रा कुमुद से सुन्दर, स्वस्थ और अधिक पढ़ा लिखा भी। फिर भी कुमुद क्या कहे ? कैसे सुनावे कि वह स्वामी उसे भला नहीं लगता है। नीलम को अपने में छिपा, क्या वह भला रह भी सकेगा। और तभी नीलम झिलमिल झिलमिल साड़ी हिलाते हिलाते सामने आ हँस कहती—"नहीं, नहीं, नहीं !"

नीलम की मन की बात उसकी हँसी क्या वह एक मखौल समझे ? और स्वामी ? दिमाग़ नीलम को खींच। जैसे चुप हो धीरे धीरे कहना चाहती हो कि यदि कुछ पहले मिलते, तो तो !

फिर नीलम सन्ध्या को आई। तो कुमुद कुछ बोला नहीं। चुपचाप किताब पढ़, उसी में खो, चुपचाप लेटा रहा। आते ही नीलम कुमुद को देख खिलखिला पड़ी। और कुमुद लेटा रहा, यह सोचते-सोचते कि इस टुकड़ा-सी ज़िन्दगी में वह नीलम को कहाँ रखे ? नीलम है नारी, सुन्दर और पढ़ी लिखी भी। और वह आई क्यों जब उसे टूटना ही था ? विचार टूटा। नीलम ने कहा था—"बड़ी दूर से आ रही हूँ। सच ! धूप में। खूब थक गई खूब !"

तो कुमुद उसकी बात, वेदना से तिलमिला कर चुप न रह सका। धीरे से बोला—"दुःख से ज़िन्दगी छोटी होती है। आपके कष्ट से ज़िन्दगी का एक साल और छोटा हो जायगा।"

सुन कर नीलम ने चाहा कि कुछ कहे। फिर बोली—"आप भी "

बात कट गई।

और माँ फिर बातों में उलझी थीं। कुमुद को लगा, ज़िन्दगी एक स्वप्न है। इसी स्वप्न में आ, कभी सच ही तो उसने विद्या को भी परखा था। वह भी ऐसी ही थी। भली भली पूरी, समूची विद्या ! फिर शादी की ओट ले, वह भागी। उसका स्वामी और नीलम भी तो स्वामी रखती है।

स्वामी स्वामी, स्वामी !

और तभी माँ ने फिर कहा—"तुम तो स्वामी के पास जाने वाली हो ?"

सुन कर नीलम खूब हँसा।

और कुमुद को यह स्वामी भाया नहीं। यह व्यापार वह कैसे छोड़े? विधा भी तो उसने ऐसे ही खोई है और अब नीलम—स्वामिनी नीलम

नीलम ने पुकारा—"कुमुद!"

विचार उलझे—नीलम भी जायगी।

उसे वह रोक कैसे सकेगा?

स्वामी का दरजा किस सोचता है? नीलम भी उसी में गई, और विवाह !

अब नीलम उठ कर पास आई। उस देख कुमुद तकिये में मुँह छिपा चुपचाप लेटा ही रहा। और अब नीलम ने जाना कि कुमुद रो रहा है।

कुमुद की वेदना!

चौंक कर नीलम ने बिलकुल पास आ, सिर पर हाथ फेरा। और कुमुद को लगा, एक हाथ की पतली पतली अँगुलियाँ उसके मस्तक पर थाम-थाम थमी हैं। जैसे वे अब हटना नहीं चाहती हैं, थमी ही रहेंगी।

मन को ज़रा समझा कर वह बोला—"कुमुद, किसकी याद आ रही है?"

याद ! कुमुद खूब फूट-फूट कर रोया था। जैसे समझाने ही कहना चाहा हो कि नीलम यह तुम कहती हो, बोलो ! और क्या कोई बताने की बात बाकी रहा है?

उसकी ओर से, माँ ने सुनाया कि कुमुद को कोई याद लग गई है।

नीलम चौंका।

आगे माँ ने बात जोड़ी थी, तुम्हारे स्वामी के घर जाने की बात से ही कुमुद को पीड़ा हुई है।

और कुमुद ने सोचा था कि यह माँ इतना सच क्यों कहे जा रही है? अब यह सच है भी और नहीं भी।

नीलम क्या करे? लज्जा में गड़, वेदना से भीग, चुप रह गई। फिर सब समझ कर बोली—"छिः, पागल हो! मैं कहीं न जाऊँगी सच, कहीं न जाऊँगी स्त्रियों की भाँति रोते हो!"

उस समय ज़रा गम्भीर हो, कुमुद बोला था—"नीलम, रोना ही ज़िन्दगी का सुख है। हम रोते हैं, यह जानने के लिये कि सुख क्या है। और उसे जान कर भुलाते नहीं। तुम नीलम हो, स्वामी रखती हो और स्वामी का भारतीय अधिकार तुम्हें रोक नहीं सकता।"

नीलम कुछ बोली नहीं। हाँ, उसकी आँखें भर आईं।

जब माँ चली गई, तो कुमुद फिर बोला—"नीलम, तुम लिखती रहना। स्वागत गान और कहानियाँ भी। और पाना कि तुम्हारे लिखने में मैं ही हूँ।"

नीलम चुप रही।

फिर बाहर की भली भली नमस्ते में उसे दूर कर कुमुद ज़रा हलका हुआ—सो माँ ने सुनाया था कि तुम्हारे चले जाने के बाद नीलम बड़ा बेचैन रही—पूछती थी कि कुमुद क्यों रोया? और मन से उलझ स्वामी से छुप मेरी धोती में छिप नीलम भी बड़ी देर तक रोई थी।

नीलम भी रोई !

कुमुद चौंका। नीलम में अपनाव आया। सोचा, सच ही क्या नीलम नारी है! नीलम नारी !

फिर एक सन्ध्या नीलम बाहर का दरवाज़ा पार कर था दूर पहुँची और कुमुद उसे पा, अपने से बाहर आ, औंध भर गया था कि नीलम ही है। जो मन में छिपी छिपी नारी का एक भराव है, उसे नीलम से मिलता जुलता पा, वह खिलखिला पड़ा। नीलम बैठी, तो कुमुद बोला—"अपनी चीज़ देखो है?"

सुन कर नीलम मुँह छिपा कर हँसी थी। और कुमुद ने 'माधुरी' की प्रति सामने की। नीलम पढ़ने में खो गई। और अब जागी, तो पाया कि वह कहानी उसे अच्छी नहीं लगी।

कहानी? हाँ, यह भी तो एक कहानी ही है!

नीलम कुछ सचेत गई। चुपचाप ही चुरचाप प्रति बन्द कर बैठ गई।

कुमुद ने पूछा—"कैसा रही?"

नीलम ने चाहा कि वह कहे, आप ठीक नहीं लिखते हैं, और मिलन वियोग की छाया के नीचे हम एक-दूसरे को क्या पहिचान न सकेंगे? मन मार बोली—"आप ने यह सब क्यों लिखा?"

आगे नीलम भावों में खो गई।

कुमुद ने बात पकड़ी। बोला—"नीलम! यही तो मैं भी नहीं जानता हूँ।"

उस दूर की नीलम में वह बात भर कर गई। नीलम की बातें कुमुद को अब भली लगती हैं। मन से उलझ वह उन्हीं का निर्माण कर चुप रहता है।

और एक सन्ध्या को कुमुद ने जाना कि नीलम स्वामी के पास जा रही है। उस दिन वह उसके विषय में उसे समझाता रहा। और फिर कमरे में घुसा, कागज़ पर पेंसिल की रेखाओं से रात को मनबहलाव करता रहा। जैसे वे रेखायें उसके मन में एक अभाव का पुति कर खिंची खिंची, गहरी गहरी हो उठा हों। न उन्हें

रबड़ से मिटा-मिटा वह सुचित्र नहीं हो पाता। और अब वे रेखायें एक नारी का रूप ले रही थीं। देख, कुमुद ने जाना कि नीलम ही है। चुपचाप कागज़ पर खड़ी है और कुछ बोलती नहीं है। जैसे अब वह मूक ही रहेगी। स्वामी में खो कर उस मूकता की राह में क्या वह वाचाल हो सकेगी?

तभी जैसे चित्र में नीलम आई।

और कुमुद ने धीरे से पेन्सिल का 'पेड' से कागज़ पर नाम खींचा।

वहां सुबह नीलम को आना था। कुमुद रात भर, जागता चित्र बनाता रहा। जैसे दूर पर वह नीलम को देख चौंका।

नीलम, नीलम!"

पर नीलम में उसका भ्रम था।

अभी नीलम का ताँगा आया। पीछे ज़रा पर्दे में नीलम और आगे उसका स्वामी। कुमुद आगे बढ़ा और नीलम उसे देख हँसी नहीं। श्रद्धा से भर, स्नेह से लग, वह बैठी ही रही। तभी कुमुद तनिक पास पहुँच, सधा-सधा कागज़ का एक बण्डल भीतर फेंक कहता-कहता एक ओर चला गया कि 'नीलम, तुम आना। आना ज़रूर। यह तुम्हारा भाग है। मैं हारा, तुम जीतीं—जीतीं।' आगे कुमुद फूट-फूट कर रो दिया। रोता ही रहा।

नीलम ने बण्डल उठा कर देखा—एक बिखरी बिखरी नारी ज़रा खिली खिली खड़ी थी। और उस अपनी-सी पर, वह रो उठी। आँखें स्वामी पर रुकीं, जैसे पूछना चाहती हों कि तुम ही स्वामी? बोलो, तुम हो? और कुमुद को वह क्या करे?

नीलम रो रही थी।

ताँगा चल रहा था।

उसका स्वामी कुछ न समझ सका।

नीला डोरा

उससे जो मिला, तो वह सकुचा, लजा, झुक कर आँखों में टिक गई। अपने से बाहर वह नहीं थी दूर दूर जीवन के किनारे से टूट, सिकुड़, सट कर पास आ गई पर बोला नहीं कुछ। चुपचाप रही—केवल हँसती सी। उसने भी सब कुछ सोचा होगा शायद खुल भी जाना चाहा हो। सूनापन झेला था, मन में किसी को समझा बुझा कर मनाया था। इस रचना को वह पाता कहाँ थी? अपने में खोकर वह उसे दबाये थी। तीन साल से उसकी माँ उसे मेरे जीवन में घुला देने की सोच रही थी। कुटुम्ब के सदस्यों ने भी बातों बातों में मुझे ही चुना था।

और मैं भी तो एक सन्ध्या को उसके यहाँ पहुँच गया था। तब वह ज़रा पास था, आगे खिसक कर मुझे पढ़ लेना भर चाहती था। अपने में चूकी थी वह। एक के भीतर सीमित उसके नारी सुलभ आकर्षण को समझा था। वह कुछ निकट आती गई और फिर कई बुरे-बुरे भाव टल गये, ठहर सका नहीं। उसे उत्सुक बना, रुला भुला कर चला आया, पर वह जैसे पास ही रही। मन में बहुत निकट थी, जैसे वह बोलना भर चाहती हो कि मैं तो नारी हूँ। तुम से छिपा नहीं रहना चाहती, और तुम क्या सदा दूर हो रहोगे? जी चाहता है तुम्हारी छाया को पकड़कर बन्द कर लूँ, पर कह पाती नहीं कि ओ जीना, तुम आँखों में यों छिपे रहो? अपने पास तुम्हारा मन अटका देख सब कुछ पा लेती हूँ। तुम्हें देख कर जी भरता नहीं। और जीना सच हो तो तुम जीना से भी निकट की आस हो मैं तुम्हें जीना ही में क्यों सामिल रखूँ। अपने में क्यों न खोल देख भर लूँ।

इस बार जो वापस आया, तो भाभी ने बताया कि कमला बड़ी भावुक है। चार-पाँच महीने के बाद भी उसमें एक अपना अपनत्व है। वह अपने में छिपी धरी नारी कमला को अपने से बाहर नहीं पाता रहा थी। बातों का जवाब नपा तुला देता। उसकी हार में भी एक जीत रहती। बचपन की सरलता के साथ साथ गहरी झुग्गियों तक उसे पढ़ा था। भाभी की बहिन में अपने को निकट पाता रहा। साल साल की आवश्यकताओं को उसका भरा भरा मुख देख कर सिखा था। ब्लाउज से साड़ियों तक उसे उलझा पाया था, और अब वह कमला के रूप में मानो बिरानी

न रही हो हँस लेना, छिटक रूठ कर पास आ, मानो गम्भीर, भावुक, बेबोल हो, चुप हो जाता हो। फिर भी जैसे वह दूर हटना नहीं जानती है।

भाभी ने मुझे स्वयं सौंपा है। दूसरा की याद में पुरुषों की भावुकता को समझा है। वह अपनी भूल में रुक जाती है। पर वह कुछ नहीं पाती। कमला के बारे में कभी कभी वह कुछ कह लेती है। अपने से दूर होना भर उसने सीखा है, पाँच साल की भरी भरी बातों में वह खूब दुबक गई है। कमला की छाया को छूना चाह कर भी वह अलग अलग हट ज़रा सँभल जाना चाहती है, पर कमला के स्नेह को वह भरका नहीं पाती है। ऊपरी मन से उसे दया भाव से हँस, पास आ, उसने भी कभी कहा था कि कमला इस घर में नहीं आ सकती है। फिर कभी बताया था कि तुम और दूसरा सगे भाई हैं और भाभी और कमला ? पर उसे अपने से दूर कर सका नहीं! कमला को अपने पास से—पास देखने की चाहना कर के भी उससे कह न पाता था। उसी दिन ज़रा यूँ ही जी चाहा कि कमला को कुछ लिख दूँ। कलम पकड़ ली और लिखा—

कमला पर कलम चला नहीं। विचार मन में ही रह गये। सोचा, वह भी नारी है किसी को ज़रा सा देख हँस भर देना चाहती होगी, और मैं भी तो पुरुष हूँ। दोनों प्यासे हैं। खाना भाभी ला रही है। पीछे देखा तो सच, भाभी कब की खड़ी पर देख रही थी। मैं कुछ झेंप गया। पत्र फाड़ कर फेंक दिया। पर भाभी जैसे सब कुछ जान कर दिल में उतर चुकी थी, बोली—"तुम्हारा यह खिंचाव ठीक नहीं है। कमला को बदनाम करने की कोशिश क्यों कर रहे हो? अब की बार जब मैं कानपुर गई थी, तब पिता जी कह रहे थे कि राजन को कमला के पास पत्र लिखने को मना कर दो यह ठीक नहीं है।"

मैं कुछ बोला नहीं। केवल सोचा, चाहे भले ही भाभी की आँखों में वह छूट हट कर पृथक हो जाये, पर फिर भी उससे दूर रह न सकूँगा। नारी की विह्वल भावनाओं के आगे वह घूमती आयगी, पर टूटेगा नहीं। और चार साल की स्मृतियों में यह क्या अपनी खोई हुई सूरत आँक न पायगी। कमला को पता है, उसे समझा [illegible] । वह समझ अधूरी समझ से मिल कर उसे अलग न कर सकेगी। और अभी वह भी नारी है अपना कमला के लिये भी उसे चिन्ता नहीं है, मैट्रिक की परीक्षा में जब वह फर्स्ट डिवीज़न में पास हुई थी, तब भाभी ने उस दिन, मना कर समझाया था कि राजन [illegible] कभी-कभी पूछ लिया कर, वह भी तो अपने हैं और अब ।

उस दिन सिनेमा गया तो देखा कमला अन्दर एक युवक के साथ पास ही बैठी घुल घुल कर बातें कर रही थी। दिल कुछ टूट गया, बोलना चाहने पर भी बोल न

सका। लगा जैसे अब वह कमला है नहीं। उसकी पास-पास हँसी में अपने को खोने की इच्छा रखते हुये भी मैं उससे सट न सका। केवल चुप ही एक ओर बैठा रहा कि वह युवक बोला—"कमला, मैंने बी० ए० में हिन्दी ले रखी है। इसलिये समय ज़रा कम मिल पाता है। जी भर आना चाहता हूँ, पर 'स्टडी' में अटक कर रह जाता हूँ। और तुम तो खाली रहती हो। तुम्हीं आ जाया करो न?" और कमला हँस कर बोली—"आप तो बहुत व्यस्त रहते हैं, और मैं ।"

कि आगे कुछ सुन न सका। उस दिन न जाने क्यों, सिनेमा म मन न लगा, जी उचाट हो रहा था। 'स्क्रीन' की ओर देखते हुए भी कुछ समझ पाया नहीं।

फिर कमला कुछ बोली नहीं। मुझसे खोती हुई नारी कमला को प्रबोध पा रहा था। घर आ कर सुना कि उसी प्रबोध के साथ उसका जीवन बँधने जा रहा है। और शान्ति १६ साल की सरस बालिका बढ़ती हुई हँसी में अपने को पाया था। वह मुझमें घुला शान्ति, हृदय के पास था मानो कह चुकी थी, कि ओ चाचा, मैं छोटी सी हूँ, ज़्यादा समझ नहीं पाती फिर भी तुम्हें पाया है। तुम जो कहोगे उससे दूर न रहूँगा। रूठ, हँस, खेल और खुल कर वह मुझे पा चुकी है, वह कमला को खूब जानती है। उसकी धरा भरी सकुचाई हुई आदतों से वह खूब हिलक गई है। भाभी के साथ जब उस बार वह पहले पहल कमला के घर गई थी, तभी उसने चुपके से कहा था—"चाचा! आज मैंने मौसी को देख लिया है। कल उसे यहाँ बुला लाऊँगी, तब आप भी देख लेना।"

उसके बाद वह प्राय तीसरे चौथे दिन कमला के घर जाती।

खाने को बैठा, तो शान्ति ने सुनाया कि आजकल मौसी प्रबोध के साथ अधिक खुश रहती हैं। नाना उसे खुद बुला कर बातों बातों में मौसी को अटका फँसा कर अलग हो दूर दूर हट जाता है। पर वह मुझसे हटती नहीं। कभी-कभी आपकी बातें पूछ हँस भर देती हैं। जैसे उसने कभी आपको जाना हो, पर प्रबोध फिर उसे बातों में लगा पास कर लेता है। कल जो मौसी के घर गई, तो वह पहले से ही बैठा था। मुझ देख कर मौसी उसके पास गई नहीं। मेरे पास बैठी-बैठी आपकी बातें करती रहीं और वह चलते समय धीरे से बोला था—"कमला, तुम न जाने क्यों, रूठ रहा करता हो? मुझसे भी अधिक यह लड़की तो है नहीं "

और मौसी इसका उत्तर दन के लिय बाहर गई। मैंने सुना, प्रबोध को जाते हुये वह सुना रही थी कि प्रबोध तुम नहीं जानते। अगर जान लते, तो कितना अच्छा होता। खबरदार ी भतीजी है, जो उसके सम्बन्ध में कुछ कहा। फि—

मेरे पास आ कर बोला—'शान्ता कुछ लायगा, कभी कभी तो आ जाया कर।"
प्रबोध आँखों के पास आ गया, पर मन से दूर का हो गया। चंचल भावुक युवक था। उसने भी कमला को आँक कर कुछ कहने को सोचा होगा।

और एक दिन प्रबोध का निमंत्रण आया था दावत का। नीचे कमला के भी हस्ताक्षर थे। दिन भर साथ में चला गया और शाम को जब प्रबोध और कमला स्वयं आ कर घर पर मिले, तो मैंने देखा कि कमला में कोई बिरानापन नहीं था वही सदा की प्यारी कमला पास आ मानो झांकना भर चाहती हो, पर बोल पाती न थी। इस सादगी में छिपी धरी एक रेखा सी उसकी हँसी को भी अपने से बाहर न पाता था, पर वह जैसे पास आने में कुछ लजाने लगती थी। अपने को छिपाये भर दूर रही कि प्रबोध बोला—'आज पिकनिक का प्रोग्राम है। आपको भी साथ ले चलने को ही कह रहा हूँ। दावत भी है।"

और कमला, प्रबोध के पास बैठी हुई कमला ने ज़रा देखा, तो और भी जैसे झांक कर पास आना भर चाहती हो! आँखों आँखों में कुछ कहा। हृदय के परतों के नीचे वह उतर गई, पर कुछ बोली नहीं।

और मैंने सोचा, सोचा और सोचा कि प्रबोध कमला के मन से बँधा है। उसकी हँसी में कुछ खेल का झलक भर जाना चाहता होगा। वह भी मनुष्य है, स्त्री की छाया में अपने को भुला भुला कर सुखी होना ही चाहता होगा, कि कमला बोली—"चलिये मिस्टर प्रबोध! शाम आ ही जायँगी, देर हो रही है। कमला का बिरानापन अब भी आँखों से दूर रहा। चौदह साल की कमला जिसे छोटे से बड़े होने तक लूट पड़ा था, उसमें परायापन अब आँख, दुख, समझ सका नहीं। फिर भी कुछ खल हो गया, पर प्रबोध नहीं माना। साथ ही शान्ति को भी ले चलने को कहा। मैं जाना न चाह कर भी चल दिया। रास्ते भर कमला चुप रही। शान्ति ने भी अधिक उसे तंग न किया। दावत भर कमला खिंचा खिंचा रहा। आँखों के आगे पर मन के पाछे। चलते समय प्रबोध ने सुनाया कि मेरा विचार अब की गर्मी में मसूरी जाने का है। साथ ही कमला भी आनेवाली है। इसी प्रोग्राम की खुशी में यह आज की दावत है।

चौथे दिन कमला को पत्र लिखा—

'कमला!

तुम बोलोगी नहीं। मेरे बुलाने पर भी नहीं। फिर भी जैसे तुम्हें बोलना पड़ेगा, प्रबोध के साथ जाने के लिये मैं तुम्हें मना करता नहीं, पर फिर भी तुम्हें पास रख

जी भर देख लेना चाहता हूँ। और तुम मा तो नारी हो आँखों की मानी और हृदय की पहिचानी हुई। शान्ति को भेज रहा हूँ। अपना चित्र दे देना अच्छा।

तुम्हारा,
राजन"

फिर शान्ति को बुला कर पत्र दे समझा बुझा बोला—"इसे अकेले में मौसी को देना, समझीं ?"

और शान्ति चल दी। बाहर देखा, तो प्रबोध और कमला बड़े कुछ बातें कर रहे थे। वह रुक सकी नहीं। सीधा अन्दर चली गई। वहाँ नानी से जो कुछ उसने पाया उसमें वह मौसी का भूल गई। लौट कर आई, तो कमला अकेली थी। उसकी आँखें जैसे भरी भरी थीं। और उनमें मानो सारे विश्व का उपहार भरा था। वह बोली नहीं केवल शान्ति के पास चुप आ खड़ी भर हो गई। और शान्ति जैसे उसे छोटी हो कर भी पढ़ चुकी थी, कुछ भौंह सकुचा कर बोली—"क्या राजन चाचा की याद आ रही है ?'

चुप !

अब की बार शान्ति ने पत्र आगे बढ़ा कर कहा—"मौसी, चाचा ने दिया है।"

कमला सहम गई। सोचा, वह भी अपना है ज़रा सोच, पास आ, कुछ पढ़ लेना भर चाहता है। और क्या प्रबोध से भी अधिक वह कि प्रबोध का चित्र सामने था। वह भी मनुष्य है। अपनी धरोहर में उसने भी किसी को पाया है। लेकिन वह करे क्या प्रबोध और राजन !

अब से बहुत बहुत पहले उसने उसम एक बात पाई थी। उस दिन वह कालेज से आ कुछ कह लेना चाहता था, और वह लज्जा से दबी, मुस्कानों से ढँका कुछ बोली नहीं थी। गोलरिंग पर रुमाल कसा था, अँगुलियों में नीले डोरे की सुई उलझी थी वह कुछ बुन रही थी कि उसने आते ही सुनाया था कि मेरा बटन टूट गया है कमला और वह ज़रा सा हँस, झुक, खुल कर उसे उस नीले डोरे से टाँक भर गई थी। सिल्क की पतली कमीज़ पर नीला डोरा भर उसने धरा था। जैसे वह डोरा उसके मन में उतर कर बता देना चाहता था कि 'ओ राजन ! यह भी एक नई चीज़ है, तुम्हें सदा पास रखने के लिये ही कर रही हूँ। और तुम क्या इसे क्षमा न करोगे ?' कि शान्ति बोली—"मौसी, चाचा कल कह रहे थे कि अब इलाहाबाद जाऊँगा। यहाँ प्रेक्टिस कुछ चलती नहीं है। तुम्हें बुलाया है, शाम को चली आना।"

दूसरे दिन पार्क गया, तो देखा कमला भी वहीं थी। मिलते ही उसने नमस्ते किया, फिर कुछ दूर हो जैसे अलग हट समझ गई थी।

मेरे पास आ कर बोला—"नाश्ता कुछ लायगा, कभी कभी तो आ जाया कर।" प्रबोध आँखों के पास आ गया, पर मन से बहुत दूर हट गया। चंचल भावुक युवक था। उसने भी कमला को और कर कुछ कहने की चेष्टा होगी।

और एक दिन प्रबोध का निमन्त्रण आया था स्वागत का। नीचे कमला के भी हस्ताक्षर थे। दिन भर काम में चला गया और शाम को जब प्रबोध और कमला स्वयं आ कर घर पर मिले, तो मैंने देखा कि कमला में कोई विशेषता नहीं थी, वही सादा था सारा कमला का भी मानो बोलना भर चाहता हो पर बोल पाती न थी। डरा सादा में छिपा धरा एक रेखा सी उसकी हँसी को भी अपने में बाहर न पाता था, पर वह नैन पास पास में कुछ खोजने लगती थी। अपने को छिपाए भर दूर रही कि प्रबोध बोला—'आज पिकनिक का प्रोग्राम है। आपको भी साथ ले चलने को आ रहा है। स्वागत भी है।"

और कमला, प्रबोध के पास बैठी हुई कमला ने मुझे देखा, मैं और भी जैसे साथ कर पास आना भर चाहता हूँ। आँखों पलकों में कुछ कहा। हृदय के परतों के नीचे वह उतर गई पर कुछ बोला नहीं।

और मैंने सोचा सोचा और सोचा कि प्रबोध कमला के मन में बैठा है। उसकी हँसी में कुछ ढाल कर अन्त भर जाना चाहता होगा। वह भी मनुष्य है, जो कि छाया में अपने को सुखा जला कर सुखी होना ही चाहता होगा, कि कमला बोली— "चलिये मिस्टर प्रबोध! रास्ता आ ही जायँगे, देर हो रही है।" कमला का विरोधाभास भर भी आँखों में दूर रहा। चौदह साल की कमला जिसे छोटे-से बड़े होने तक देखा था उसमें परावर्तन सब ओर, हम, समस्त सब नहीं। फिर भी कुछ लग ही गया, पर प्रबोध नहीं माना। साथ ही शान्ति को भी ले चलने को कहा। मैं जाना न चाह कर भी चल दिया। रास्ते भर कमला चुप रही। शान्ति ने भी अधिक उसे तंग न किया। स्वागत भर कमला खिंचा खिंचा रहा। आँखों के आगे पर मन के पीछे। चलते समय प्रबोध ने सुनाया कि मेरा विचार अब की गर्मी में मसूरी जाने का है। साथ ही कमला भी जानेवाली है। इसी प्रोग्राम की खुशी में यह आज का दावत है।

चौथे दिन कमला को पत्र लिखा—

"कमला!

तुम बोलोगी नहीं। मेरे बुलाने पर भी नहीं। फिर भी जैसे तुम्हें बोलना पड़ेगा, प्रबोध के साथ जाने के लिये मैं तुम्हें मना करता नहीं, पर फिर भी तुम्हें पास रख

जी भर देख लेना चाहता हूँ। और तुम भी तो नारी हो आँखों की मानी और हृदय की पहिचानी हुई। शान्ति को भेज रहा हूँ। अपना चित्र दे देना अच्छा।

तुम्हारा,
राजन"

फिर शान्ति को बुला कर पत्र दे समझा बुझा बोला—"इसे अकेले में मौसी को देना, समझीं?"

और शान्ति चल दी। बाहर देखा, तो प्रबोध और कमला खड़े कुछ बातें कर रहे थे। वह रुक सकी नहीं। सीधा अन्दर चली गई। वहाँ नानी से जो कुछ उसने पाया उसमें वह मौसी को भूल गई। लौट कर आई तो कमला अकेली थी। उसकी आँखें जैसे भरी भरी थीं। और उनमें मानो सारे विश्व का उपहार भरा था। वह बोली नहीं, केवल शान्ति के पास चुप आ खड़ी भर हो गई। और शान्ति जैसे उसे छोटी हो कर भी पढ़ चुकी थी, कुछ भौंह सकुचा कर बोली—"क्या राजन चाचा की याद आ रही है?"

चुप!

अब की बार शान्ति ने पग आगे बढ़ा कर कहा—"मौसी, चाचा ने दिया है।"

कमला सहेज गई। सोचा, वह भी अपना है ज़रा सोच, पास आ, कुछ पढ़ लेना भर चाहता है। और क्या प्रबोध से भी अधिक वह कि प्रबोध का चित्र सामने था। वह भी मनुष्य है। अपनी धरोहर में उसने भी किसी को पाया है। लेकिन वह करे क्या प्रबोध और राजन!

अब से बहुत-बहुत पहले उसने उसमें एक बात पाई थी। उस दिन वह कालेज से आ कुछ कह लेना चाहता था, और वह लज्जा से दबी, मुस्कानों से ढँकी कुछ बोली नहीं थी। गोलरिंग पर रुमाल कसा था, अँगुलियों में नीले डोरे की सुई उलझी थी वह कुछ बुन रही थी कि उसने आते ही सुनाया था कि मेरा बटन टूट गया है कमला और वह ज़रा सा हँस, चुप, खुल कर उसे उस नीले डोरे से टाँक भर गई थी। सिल्क की पतली कमीज़ पर नीला डोरा भर उसने धरा था। जैसे वह डोरा उसके मन में उतर कर बता देना चाहता था कि 'लो राजन! यह भी एक नई चीज़ है, तुम्हें सदा पास रखने के लिये ही कर रही हूँ। और तुम क्या इसे क्षमा न करोगे?' कि शान्ति बोली—"मौसी, चाचा कल कह रहे थे कि अब इलाहाबाद जाऊँगा। यहाँ प्रेक्टिस कुछ चलती नहीं है। तुम्हें बुलाया है, शाम को चला आना।"

दूसरे दिन पार्क गया [illegible] देखा कमला भी वहीं था। मिलते ही उसने [illegible]
किया, फिर कुछ दूर [illegible]

मैंने कहा—"कमला, मेरी भी कुछ सुन लो। मैं थोड़ा अधिकार रखता नहीं? फिर भी जी करता है कि तुम्हें आँख भर, जी भर निहार पास रख लूँ। तुम जीतीं और मैं हारा! प्रबोध को अपना स्थान देकर मैंने जाना कि कमला अब बिरानी है। मसूरी-दूर की खुशी में भी बिराना रहेगी। लगता है कि तुम मुझे क्षमा करोगी नहीं। इलाहाबाद जा रहा हूँ, तुम्हें चिट्ठी लिखता थी कि कि बात अधूरी रह गई। प्रबोध बीच में आ गया। उसे पास कर दूर हट आना पड़ा। कमला एक ओर सरक अटक गई।

शाम को शान्ति के हाथ एक सिल्क की कमीज़ और एक पाँच रुपये का नोट कमला के पास भेजा।

खोला, तो उसने वही पाया जो आज से चार साल पूर्व मिला था। कई बार धुलने के कारण फट चला थी। उसी के छेद में उसी के हाथ का भरा हुआ 'नीला तारा' ज़रा हल्का हो टूटना चाहता था।

फिर उसने पाया कि एक शाम को मैं गाड़ी में बैठ स्टेशन की ओर चल पड़ा था। इलाहाबाद की ट्रेन आई। मैं चढ़ पाया, तो मिलमल के पास एक ताँगे में बैठा कमला कुछ सोच रहा था। उसके हाथ में एक कमीज़ थी जो कई बार धुलने के कारण फट चली थी। उसी के छेद में भरा हुआ 'नीला तारा' ज़रा हल्का हो टूटना चाहता था।

छाया-गीत

प्रभा अपने भीतर अब कोई बात पाने लगी है। मन में जो एक पीड़ा जमी है, उसे वह छिपा नहीं पाती है। कुछ व्यवहार से हट ज़रा सामने हो, वह पीड़ा आँखों-आँखों में ही न रह, जैसे हँसती हँसती कह जाती हो कि प्रभा, देखो, तुम टूटना मत। समाज, संसार, लोकाचार तुम्हें क्यों उलझायें? जो बाहर है वह तुम्हारा है और उसी पर टिकी टिकी तुम रहना। इस बात से प्रभा का मन कुछ कठिन हो जाता है। उस कठिनता की तह में एक हलकी छाया देख, वह सिहर उठती है।

ज़िन्दगी में उत्तम की कुछ ऐसी पकड़ आई है कि उसे याद नहीं रहता कि वह उत्तम है, और जब कि स्वयं प्रभा, वह प्रभा है ज़रूर, पर उत्तम से हटने की बात होती है, वहाँ दिल का एक कोना खाली हो जाता है और वह कोना भारीपन से भर जाता है। इतना भारी कि बैठना नहीं आता है। और तभी उस खाली जगह प्रभा से उत्तम जैसे कहने लगता— प्रभा, ज़रा अपने को समझ लो। मैं यही चाहता हूँ। तुम रहो, रहो ज़रूर; पर अपने से बाहर क्यों रहो? और जो दूर, बहुत दूर, जहाँ पर आँखों का टिकाव एक लकीर सा बन तुम्हें निहार चुका है, वह क्या अब ऐसा ही रहेगा?'

फिर वह क्यों उसके लिये बहके?

एक अनजान पीड़ा लिये खिली खिली रहे वह, पर उत्तम से भरी भर! यही उसने जाना है। उत्तम उसका दूर का सम्बन्धी है। यह सम्बन्ध उसने सोचा है। कई बार बातें उसमें उलझीं। तब वह यह जानना चाहती थी कि उत्तम उसे क्यों अच्छा लगता है।

बात ज़रा उभरी।

उस बार वह क्यों उसके सामने सोई-सोई सी रही? और सिर की धोती का एक सिरा ज़रा हटा हटा रहा होगा, उसमें सटी सटी, पतली पतली अँगुलियाँ भी और समीप उत्तम, पीछे माँ। तब क्या उसने समझा न होगा कि प्रभा ज़रा अलग नहीं है? हाँ, एक बहाने में आ, मनुहार कर लेटी-लेटी रहना चाहती है। और उत्तम ने माँ की ओट से सुनाया था—आजकल दिन में नींद अधिक आती है।

प्रभा मज़ाक के बाहर ही ठहरी। वैसी ही रही और हिली नहीं जैसे पास आ मन में कहा—"सुनो जी, मुझे लेटी ही रहने दो। समाज का पर्दा कहाँ तुम तक आने देता है ? ज़रा ऐसे ही मर जाती हूँ।" प्रभा कुछ बोली न थी। मन की विवशता को नाप तौल वह समझ चुकी थी। चाहा कि कुछ बोले, पर मन मार रह गई।

और तब उसने देखा कि सामने जो पुरुष बैठा है, वह एक पहली सा हो, मन के मार्ग उतर रहा है। उसमें एक गहराई है।

फिर एक हलकी स्वस्थ अँगड़ाई ले वह हिली। ज़रा मुँह खोला पाया उत्तम ही है। आँखें मींच विचारों में खो गई। सोचा, गुलाबी साड़ी के एक सिरे से बिखरे बिखरे बाल और उनमें अस्त-व्यस्त मैं क्या ऐसी ही पड़ी रहूँगी ? और क्या उत्तम इसे समझता नहीं है ?

और माँ ?

अब वह कुछ झिझकी थी कि पीछे से दो हाथ आ कर साड़ी पर रुक गये, कुछ आगे बढ़ साड़ी सँभाली और फिर रुके ही रहे। उन हाथों का स्पर्श वह सह चुकी है कि माँ पीछे से घूम सामने आई, कहती कहती—"प्रभा, ऐसी ही रहेगी ! न लाज, न शरम जा अन्दर लेट !"

पर वह उठी नहीं।

ज़रा दब दबा बाहर से ढँका लेटी ही रही। जैसे कहना चाहती हो कि तुम्हारा क्या जाता है ? मैं लेटी हूँ, मुझे लेटी ही रहने दो न ! और यह उत्तम उससे लाज ? छि ! फिर माँ कुछ बोली नहीं। और तभी वह उठी, प्यार से साड़ी सँभाली फिर मन्थर गति से झुक थोड़ा सा हँस, कुछ झेंप, एक ओर अखबार हिलाती डुलाती चली गई। और उत्तम को लगा कि वह सारी पवित्र भावनाओं को बिखेर, ज़रा खुली खुली मन में आ फिर भर गई है। एक घटना से सट, जिन्दगी को हटा, यह प्रभा क्या ऐसी ही रहेगी—और बोलेगी नहीं ?

जब उत्तम चला गया, तो वह कुछ ढीली हो पास आई। मन भरा था, जहाँ पर बोझ सा था, वह स्थान खाली हो गया था खाली ही रहा। शाम को माँ ने उत्तम के सामने लेटे रहने के लिये जली कटी सुनाई। तब उत्तम सामने लगा, पर वह चुप ही रहा। लेकिन उसका मन कह रहा था—क्या माँ मुझे समझती नहीं है। और फिर उसके विचारों से यह बात अनायास ही जुड़ गई कि उत्तम वही सा है जिसे देख, सुन समझ माँ खिली खिली मुस्काती कि प्रभा, तू इसी के साथ आयगी, जायगी और रहेगी।

और अब उत्तम जैसे कह उठता—"हाँ, हाँ, प्रभा, तुम मुझमें अपनी बातें छिपा देना और पाना कि मैं तुम्हारा हूँ।"

उस बार ज़रा उत्तम रूठा, चलने चलने को हुआ माँ पास आ बोलीं—"उत्तम! तुम्हारी जिम्मेवारी ज़िन्दगी में अधिक है। मैं कहती हूँ कि मेरी प्रभा रानी भी इसमें से कुछ हिस्सा बँटा ले।"

फिर माँ यह सब क्यों करती हैं? एक पुरानी बीती याद लिये वह जीवित रही है। और उसने सोचा, उस बार ऐसे ही उत्तम का नाम उसके सामने लिया गया था। तभी एक श्रद्धा बौट उसके समीप वह पहुँच चुकी थी। और आज?

ठीक, ठीक, ठीक!

वह उत्तम से क्यों हटे?

उस रात वह जी भर सो न सकी। एक मानसिक गृहस्थी में आ जैसे वह अपना स्थान समझ चुकी थी। और फिर उत्तम कभा आया था, कुछ सँभला सँभला। और वह अब क्या करे? जो एक सुख बना है, वह सुख उत्तम का सहारा ले सामने खड़ा है। माँ भी नहीं, वह कुछ सकुचाई। फिर छोटे भाई के साथ गिलास में भर कर कुछ भेजा। उत्तम बैठा रहा सोचता सोचता कि यह जो नारी प्रभा है, वह कितनी व्यस्त रहती है। जैसे काम में तु", अपने को भूल, वह अवकाश नहीं पाती रही है।

आनेवालों की पूरी फिक्र रखती है, ज़रा कभी-कभी डाँट डपट भी करती रहती हैं, और तभी मेज़ से गिलास पकड़ा, कहते-कहते—"अभी अभी मैं चाय पीकर आया हूँ!"

और अन्दर प्रभा ने ठुनक कर सोचा, पी आये हो तो एहसान क्या, मत पियो! कोई मुफ़्त की थोड़ी ही है!

विनोद ने सुनाया—"दीदी, आजकल चाय का विरोध कर रहा हैं। वह नया है। स्वास्थ्य के लिये नुकसान करती है!"

और उत्तम ने वह गिलास उठा, फिर सोचा, ऐसी सर्दी में यह शर्बत क्यों दिया गया है? तभी उस गहरे रंग के गिलास की धूमिल छाया में उसे प्रभा का हँसता हँसता मुँह दिखाई पड़ा। जैसे कहना चाहता हो कि पीना हो तो पियो और अब तो तुम्हें पीना ही पड़ेगा। उत्तम ने एक घूँट उतारा।

किवाड़ की ओट से, प्रभा ने देखा—वह सर्दी को मानो शर्बत के साथ खेल खेल रहा है। और उसने चाहा कि वह प्रभा का सारा शर्बत क्यों न पी जाय? कि प्रभा ने पुकारा—"उत्तम!"

अधूरा मिलन

अग्गो ने लेटे ही लेटे कहा—"तो मैं क्या करूँ बानू! मगर तुम्हारी नज़रों में मैं भली नहीं हूँ, तो मुझे मेरे बाप के घर भेज दो। मैं समझूँगी कि मेरे भाग्य में यही लिखा था!"

मीनू हँस दिया। उस अँधेरे में उसकी हँसी में एक भ्रम और अविश्वास का हल्का रंग भरा था। वह अविश्वास जो स्वयं ही दो आँखों के बीच एक दीवार का काम करता है—जिसमें घृणा, अवहेलना और उपेक्षा के बीज पड़ कर वृक्षाकार हो जाते हैं। मानो वह कह रहा हो—बानू! तुम अग्गो की उलझी हुई बातों में न आ जाना, यह तो नारी का स्वभाव है। इसी में तो वह अपने किये हुए अतीत के पापों को ढक लेती है, इसी में तो उसका सारा अधूरा स्नेह पनपता है और यही तो उसका अलबेलापन है। फिर उसने सिर से चादर उतार कर कहा—"तो मैं तुमसे कुछ कहा थोड़े ही रहा हूँ, जो इतना बुरा मान गई? अब मैं कुछ भी न बोलूँगा।"

उसने बढ़ कर तेल का डिबरी जलाई। देखा अग्गो रो रही थी। उसके गोरे, गोल मुख पर आँसुओं की सूखी हुई सुनहरी लकीरें चमक रही थीं, जो अब दीपक के धुँधले प्रकाश में साफ़ साफ़ पढ़ी जा सकती थीं। उसने कहा—"अग्गो!"

वह गुमसुम!

"अग्गो!"

वह चुप रही।

"अग्गो!"

अब की बार वह समझ गई, बोली—"हूँ!"

मीनू का हृदय भर आया। उसके नेत्रों में वह सदा की भाँति हँसती खेलती आ कर उसे सुझा गई कि मीनू! मैं तुम्हारी ब्याही हुई तो हूँ नहीं। मैंने तुम्हें प्यार किया था, यह सोच कर तुम मेरी भूलों को मेरे दिल से निकाल सकोगे और मेरी उलझी हुई मुद्रा को सुलझा कर कह सकोगे—अग्गो! वह तुम्हें भूल गया है, तो क्या हुआ, मैं तो नहीं भूला हूँ!

जग्गो की बेबसी ने बीनू के हृदय में एक हलचल मचा दी। वह सोचने लगा, क्यों वह उसके बारे में ऐसा सोचता है ? नहीं, यह सब झूठ है, उसकी जग्गो अप वित्र नहीं है। मगर वह ? अब वह काँप रहा था। उसी ने तो उस दिन मेले से आ कर कहा था—मैं उसे चाहती थी। किन्तु आज किन्हीं अनबूझी शक्तियों का सोया हुआ रूप उसे दूर पर रँगरेलियाँ करते हुये दिखाई दिया। वह जग्गो को प्यार करता था। उसने अपनी बहुत-सी छोटी-छोटी बातें उसके जीवन में छिपा दी थीं, जो अब बरबस अन्दर से निकल कर बाहर बिखर पड़ना चाहती थीं। जग्गो के आँसुओं ने बीनू के चारों ओर वह दीवार खड़ी कर दी थी, जिसे वह तोड़ना चाहे तो तोड़ नहीं सकता था। बीनू दियासलाई की डिबिया ले कर उसके पास पहुँचा। फिर उसके माथे पर हाथ रख कर बोला—"जग्गो ! छि रोती हो ! कैसी पागल की-सी सनक है !"

वह चुप न हुई। अब बीनू को अपनी गलती पर पूरा विश्वास हो गया। उसके विचारों की खोई हुई छाया में जग्गो के प्रति सहानुभूति की सिसकने चक्कर काट चुकी थीं। उसे स्वय अपने से घृणा होने लगी। स्त्री पुरुष की दासी है, वह उसके इशारों पर चलना चाहती है। उसके चरित्र पर दोष लगा कर क्या उसने उसे बद नाम करने की कोशिश नहीं की ? वह दाँत पीस कर सोच रहा था, काश, उसने ऐसी बात न कही होती लेकिन उसे क्या पता था कि वह इतनी जल्दी उससे बुरा मान जायगी किन्तु वह ? इस विचार ने न जाने क्यों उसके ओंठ फड़का दिये नहीं ! वह इतना ओछा नहीं है।

तुरन्त के जले हुये दीपक का लाल लाल रोशनी में वह उसकी व्यथा को समझ चुका था। बीनू उसके भार को हलका करना चाहता था। वह उसकी गम्भीर मुद्रा को भुला कर उसे बता देना चाहता था कि तुम रोती क्यों हो जग्गो ? लो, मैं माफ़ी माँगे लेता हूँ, सच !

अभी उसके अलसाये हुये अधरों पर हलकी लकीर सी मुस्कान में जग्गो के उस मूड का चित्र था, जिसे अपनी आँखों में भरने के लिये कभी बीनू छटपटा उठा था। उसकी आँखों की मस्ती बीनू को अब भी हिला रही थी।

स्वामी को इस प्रकार से चुप देख कर जग्गो और भी फूट-फूट कर रोना चाहती थी। पर अकेले नहीं, वह चाह रही थी कि कोई उससे पूछे और वह उसके आगे अपने को खोल कर हलका कर ले। उसकी इच्छा थी कि उसका स्वामी उसके रोने पर खुद दो आँसू निकाल दे, और तब वह उसे समझावे कि बीनू ! तुम्हीं बताओ बिना उसके कैसे रह सकती है ? उसके गोल गोल गालों पर दूर तक बहे

को वह पोंछ कर बोला—"चुप हो जाओ ! अब कभी भी ऐसा पाप न करूँगा !"

रात को पारो ने अपने स्वामी के संसार में संसार भर कर रहना चाहा। पर न जाने क्यों वह उसके पास तक न पहुँच सकी। मानो अंतर का सारा भार उसे बाँध सा गया हो। उस अँधियारे में उसके स्वामी ने कई बार अनुभव किया कि वह बार-बार ज़रा-सा काँप उठती थी।

उस दिन शाम को अग्गो रोटी बना रही थी कि उसने बाहर अपने स्वामी के साथ किसी व्यक्ति का वार्तालाप-सा सुना। उस परिचित स्वर को सुन कर वह चौंक उठी। उसने दरवाजे की ओर जो देखा, तो उसका भ्रम मिट गया। मिट्टी की ढिबरी के धुँधले प्रकाश में वह उसे पहचान गई कि वह बाबू था। वह चौंक पड़ी। उसका हृदय कुछ कहना चाहता था—शायद उसकी वेदना पर मरहम हो। पर वह उस दौड़ना भी चाहता हो। पर उसे फिर अपने माँ-बाप की याद आई, मानो अभी वह उन्हें घर छोड़ कर आई ही हो। बचपन का वह भयानक भूकम्प भी उसकी आँखों में घूम गया, जिसमें वह किसी के हाथों पड़ कर अस्पताल पहुँची थी। इतना ही नहीं, उसे अपने मकान के साथ-साथ अपनी सारी ममता पृथ्वी में समाती हुई मालूम पड़ी थी।

अग्गो ने दूर तक उसे अँधियारे में जाते देखा। अब वह अपने को बिल्कुल भूल गई थी। रात को उसका स्वामी जब खाना खाने आया, तो देखा तरकारी में नमक न था। रोटियों पर धुएँ के काले दाग लगे थे, और वे जली हुई थीं। उसने प्यार से कहा—'अग्गो! आज तूने खाना बिगाड़ डाला है?"

अग्गो जल उठी—उसने तेज होकर उत्तर दिया—"तो मैं क्या करूँ। मुझसे तो ऐसी ही बनता है। जो चाहे तो खा लो!"

बाबू की समझ में कुछ भी न आया। वह चुपचाप रोटी खाने लगा। उस रात को वह उसके पास अपना हृदय न बिछा पाई। कोने में रजाई ओढ़ वह न जाने क्या-क्या सोचती रही। उसे याद आया कि बाज़ार के उस मोड़ पर अपनी छोटी-सी पान की दूकान पर बैठते समय वह कितनी खुश थी। वह दूकान ही उसकी दुनिया थी। आते जाते युवकों का परिहास ही उसकी चपलता से उभरता रहा। वह किसी तरह अपने ग्राहकों का मनोरंजन हो रही थी। कभी कोई पान माँगता, तो वह गलती से उसे गोल्डफ्लेक की डिबिया दे जाती, तो कभी किसी से पैसे लेना ही भूल जाती।

उसकी उस मधुर मुस्कान में पानी की लहर की तरह दूर हटी हुई वेदना की लीक थी। वह स्वयं भी अपने भावों को दबाये बैठी रहती। मानो उसे किसी चीज़ का अभाव अखरता हो, मानो अब वह बिना उसकी पूर्ति के अधिक समय तक और

न रह सकेगी। कोई उससे कुछ कहता नहीं था। कोई उसे पढ़ न पाता था। उसमें एक जादू था कि ग्राहक अपने को भूल जाता था। वह बहुधा गुलाबी धोती पहनती थी, और साथ ही हाथ पाँव में मेंहदी लगाना भी न भूलती थी। उसकी दूकान के ग्राहक अधिकतर पढ़े लिखे लोग ही थे। और भी थे, पर वह उनके हाथ पान न बेचती थी। वे सवेरे आते थे और उस समय उसका पिता दूकान पर बैठा करता था।

सारा का सारा चित्र उस अन्धकार में उसे दिखाई पड़ रहा था। उसने रजाई से मुँह निकाला। देखा, चीनू सो रहा था। वह फिर सोचने लगी कि वह किस तरह बात बात में लोगों को छेड़ा करती थी। किसी से कहती—"बाबू पान ही खा लो। सोचते होगे, कि पैसा यों ही न ले ले। न बाबू, मैं ऐसी बेशर्म थोड़े ही [illegible]। मत देना पैसा और क्या!" तो दूसरे से चुटकी लेकर बोलती—"आप तो अब पास हो गये हैं। मुझे सब मालूम है। मिठाई न खिलाओगे बाबू?"

वह अपने खास-खास ग्राहकों की लिस्ट सी रखती थी और पूरा पूरा पता भी। दुकान की हलकी पीली रोशनी में उसका गोरा चिट्टा-सा मुँह साफ़-साफ़ झलक उठता था, जिस पर पान की गहरी सुर्खी बेग मुस्कराया करती थी।

सहसा उसे याद आया कि उन दिनों एक ठाकुर का छोकरा उसकी दुकान पर पान लेने आने लगा था। वह स्वस्थ, सुडौल और सुन्दर भी था। पहले ही दिन उसने पान ले कर एक अठन्नी उसके हाथ पर रख दी था। वह काँप गई थी। उसका वश चलता, तो वह उसे वापस कर देती; पर वह न माना था। सिर्फ मुस्कराता हुआ एक ओर चला गया था। वह कुछ समझना चाहती थी। मानो अब वह अकेलापन न सह सकेगी। अपनी आँखों की कोरों में उसने उस युवक की एक विचित्र मोहनी लाते हुये अनुभव किया था।

अन्य ग्राहकों के बीच वह भी खड़ा-खड़ा सिगरेट पिया करता। फिर सब के चले जाने के बाद वह चुपके से खिसक कर उसके पास आता। उस समय उसकी भी आँखें उससे उलझ जातीं। न जाने क्यों वह उसे देख कर घबरा जाती थी। उसका हृदय धक धक करने लगता।

एक दिन वह सदा की भाँति दुकान पर बैठी थी। ग्राहक खड़े थे! सहसा वह आया, वही घुँघराले बाल और पम्प के जूते! सब के चले जाने के बाद, उसने धीरे से कहा—"जग्गो, मैं अकेला हूँ—बिलकुल अकेला!"

"तो मैं क्या करूँ, बाबू?"

"जग्गो, यह लुका छिपी कब तक? चलो मेरे यहाँ! मैं तुम्हें रानी बनाऊँगा!"

वह कुछ न बोली था।

उस अँधेरे में भी उसने उसकी मुस्कान को समझा था। मानो वह उसकी स्मृति पर मुहर लगा रही था।

फिर उसने धीरे से कहा था—"बानू! यह मुमकिन न होगा !"

वह बात काटते हुए बोला—"जग्गो, अब मैं तुम्हारे बिना न रह सकूँगा !"

उसने लपक कर जग्गो का हाथ पकड़ लिया था। वह घबरा कर उठ बैठी थी। उसी गड़बड़ी में उसके हाथ की चूड़ियाँ भी टूट गई थीं। ताक पर की रख दी ढिबरी ज़ोर से भक्-भक् करने लगी। उसने वहीं पर उसे कई बार ज़ोर से चूम लिया था—"जग्गा तुम मेरा बनो !"

जग्गा शरमा गई था। फिर उसने अपने को सँभाल कर कहा था—"हाँ, तुम !"

सहसा उसके हाथ पर उसने कोई चाकू रख दी थी। एक पाँव हाथ का कट था। जग्गो घबरा गई थी। वह अपने को सँभाल कर रोना चाहती थी। उसने मिट्टी के कूँडे से पानी ले कर अपने गाढ़े गालों को खूब रगड़ रगड़ कर धोया। मानो वह उसके अन्दर का सारा दुराचार पानी में धोकर बहा देना चाहती थी। यहाँ तक कि उससे खून निकलने लगा। तब उसने समझा था कि वह पवित्र हो गई था।

फिर एक दिन बड़े ज़ोरों का भूकम्प आया। वह दुकान पर थी। सभी मकान गिर रहे थे। वह घबराई-सी घर पहुँची था। देखा, तो सारा मकान गिर चुका था। वह अकेला दरवाज़े पर खड़ी था।

किसी ने भी उसे समझ न पाया था, किसी ने भी उसे पकड़ न पाया था। वह कुछ उलझी सी अन्दर घुस गई थी। बस, फिर उसे आगे कुछ याद नहीं आया। आँख खुली, तो एक सुन्दर जवान उसे सेवा से लिये जा रहा था। उसने कराह कर कहा था—"पानी !"

वही परिचित स्वर था। उत्तर मिला—"जग्गो, अभी नहीं !"

जग्गा! मेरा नाम! उसके हृदय में एक द्वन्द्व-सा उठ खड़ा हुआ। अपना अस्त व्यस्त चन्द्रा की हलकी खुमारी में भी उसने उसे पहचान लिया था। वही पानवाला युवक! उसने अपनी आँखें मींच कर उसके हृदय में घुस जाना चाहा था। फिर धीरे से बोली थी—"कौन, तुम तुम !"

और वह उसे चुप कर रहा था।

उसे याद आया, फिर वह बिलकुल अच्छी हो गई थी। उन परवाले दिनों फिर से वह एक बार अपने को खोई सा लगी था। वह रोज़ उसे दूध के साथ टानिक देता था। अस्पताल से आ कर वह उसी के घर रहने लगी थी। तब

मालूम हुआ कि वह किस प्रकार ईंटों के नीचे दब गई थी। और किस प्रकार उसने पहुँचकर उसे निकाला था। यह बात सुनते समय वह एक बार सोच गई था कि—क्यों न वह उसके साथ ब्याह कर ले? उसमें न जाने कौन सी शक्ति थी, जो उसमें मिल जाने के लिये उसे विवश कर रही थी। किसी अनाम बन्धन में बँधी हुई वह उसकी ओर बराबर खिंच रही थी। वह उसके आगे अपने को हारी-सी पाती थी।

उस दिन वह कुछ शिथिल सा था! उसकी भारी आँखें देख कर वह चौंक उठी थी। उसने डरते-डरते पूछा था—"आज क्यों सुस्त हो?"

पर वह कुछ भी न बोला था।

उस दिन उसने खाना न बनाया। लकड़ी जलती ही न थी। दियासलाई की कोठियाँ तीलियाँ फूँकने पर भी वह उसे जला न सकी थी। चूल्हे में पानी डाल कर वह उसके पास पहुँची थी। टीन की डिबिया के धुँधले प्रकाश में वह चुपचाप लेटा था। अन्त में उसने वही सुनाया, जो उसने बहुत पहले से ही साच रखा था। वह एक सनक थी, पागलपन था। उसी झोंक में वह कह गया था—"जग्गो मैं मर जाऊँगा! मैं अब तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। जग्गो, जग्गो! मेरी रानी!"

इस उत्तर ने न जाने क्यों उसे हिला दिया। फिर दूसरे ही क्षण कमरे की प्रत्येक वस्तु ने उसे उसकी सुकुमार बाँहों में देखा था। कुछ सजग होते हुये उसने कहा था—"तो मैं कब मना करती हूँ?"

उनके ओंठ एक-दूसरे के ओंठों में सट गये थे। आज उसे अपने जीवन की सारी छायायें याद आ रही थीं। वह अब रो रही थी।

हाँ तो फिर वह एक दिन मेला गई थी। वहीं पर वह उससे पृथक हो कर खो गई थी। शाम आ गई, पर वह उसे न ढूँढ सका था। अन्त में एक आदमी ने कहा—"तुम को कहाँ जाना है?"

वह चुप रही।

"क्या तुम्हारा साथी खो गया है?"

वह गुमसुम।

"आख़िर यहाँ कब तक खड़ी रहोगी। लोग क्या समझेंगे? चलो, मेरे साथ!"

वह कुछ सोच रही थी। शायद वही जो वह चाह रहा था। सोचा, जाना तो है ही सो क्यों न चला जाय? यहाँ कब तक खड़ी रहूँगी। [illegible] साथ हो ली [illegible] कर उसने सारा हाल सुना दिया। उसकी बीवी [illegible] हत

में उसने उसके मचलते हुए अनुरोधों को मान लिया, और अब वह उसी के साथ रही है।

आज शाम को वही तो उसके स्वामी के साथ आया था। उस रात वह अभागी सिसकियाँ भरती रही। सुबह उठ कर अपने स्वामी के मुँह से उसने जो सुना तो उसका सारा भ्रम जाता रहा। उसने कहा—"यह कह रहा था कि अभागी पहले मेरी बीबी थी।"

यही तो उसने रात में भी कहा था। इसी बात ने तो उसके दिल में वेदना का एक इमारत खड़ी कर दी थी। इसी बात ने तो उसकी आँखों में आँसुओं का प्रवाह सा उपस्थित किया था। वह कुछ न बोली।

आकाश साफ़ था। पत्ते उड़ रहे थे, मानो वह सोच रही थी कि अब इस अपूर्व याद को ले कर क्या करेगी।

उसी समय वीनू ने उसकी ठोड़ी हिला कर कहा—"क्या? क्या नाराज़ हो?" और वह हँस दी। मानो यह भी उसका 'अधूरा मिलन' था।

आनन्दी

आज मन के पास बहुत सी भाभियाँ जमा हैं। ये भाभियाँ कहीं पर कुछ फीकी नहीं हैं। इनका अपना एक रोज़नामचा है। सारा चिट्ठा यहाँ पर है, और मन में इनके प्रति खूब-खूब याद है। एक खास संजीदगी के दायरे में भाभियाँ न जाने क्यों देवर को सा सोचने की आदी हो जाती हैं। तब नई नई बातों को दूसरों पर फैलाना वे खूब सीख जाती हैं। बँधी बँधाई गृहस्थी का उत्तरदायित्व निभा, मन भी बँगना उन्हें खूब आ जाता है। पास जाओ, ठुनुक कर पीछे हटेंगी। एक हाथ से दरवाज़ा पकड़, हँस, खिलखिला कर कहेंगी—"खूब! किसी की याद आ रही है?"

सब अपनी गहराई नापना वे पसन्द नहीं करतीं। केवल छाया-सी बात बिखेर, पीछे छिपे रहने में भी खूब सावधानी बरतना उन्हें आ जाता है।

वैसे ये दिन भर मज़ाक चुगती रहती हैं। मन से खेल, आँखों आँखों में कह ये भाभियाँ जैसे बस, केवल मन बहलाव के लिये हो आती हैं। और होली का दिन इनके मज़ाक का खास दिन होता है।

आनन्दी भी इनमें से एक है। पूरे सत्रह साल पार कर अठारहवें में आई है। अन्य भाभियों की भाँति आनन्दी भी खूब जानकार है। बातों के सिलसिले में भाभी पीड़ा बिखेरना उसे खूब आता है। दिन भर चुहुल बनी पूछेगी— कहाँ रहे इतनी रात?' अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं पा फिर कुछ बोलेगी नहीं।

आनन्दी पड़ोस के भाई साहब नाते से भाभी लगती है। ये भाई साहब रेल में नौकर हैं। बेचारे ठीक आठ बजे ड्यूटी पर जाते हैं। और रात को जब आनन्दी की आँखें रास्ता देखते देखते पथरा जाती हैं, तब ये कहीं वापस आते हैं।

आनन्दी ने अपना कुछ छिपा कर इनसे नहीं रखा है। जब से घरवालों ने हल्दी से हाथ पीले किये, आनन्दी ने कभी कहीं पर इनके साथ चलने में आनाकानी नहीं की है।

आनन्दी का यह रिश्ता अपना एक खास इतिहास रखता है। तब आनन्दी पड़ोस में नई नई आई थी। छोटी बहिन ने सुनाया था कि आनन्दी बहुत सुन्दर है। अपना इस बात के विषय में कोई खास कसौटी नहीं रखता, न मैं कुछ इसके लिये माथा ही कुदाता हूँ। एक दिन शाम को खिड़की से दो काली काली आँखें भर देखी

थीं। और आज उन्हें आनन्दी मान लेने में कहीं कोई हिचक नहीं है। आनन्दी मन के निकट तब गहरी उतरी थी।

और आज आनन्दी सुबह से ही घर पर है। कभी कभी यह आनन्दी बड़ी सरल लगती है। तब जाने क्यों ललक, थोड़ी देर के लिये मैंने अपने को समझाया भर है। यहीं आनन्दी का बैठा, हँस लिया, देर तक मन बहलाया है। तब आनन्दी ने इच्छा न रहते उसे भी मन में केवल अपने को सौंपा भर है कि आनन्दी सामने आई प्रश्न पूछते बोली—"आज तो आफिस बन्द है ?"

'क्यों ?" कहा था मैंने।

"होली तो है।" बोली थी आनन्दी।

"होली ?" बात हलके गुनगुनाई गई थी। कहीं पर कुछ गहराई न आई थी तब। पिछली होली में इस आनन्दी की छोटी बहिन आई थी। वह अल्हड़ लड़की भी उन दिनों खूब मन बँधती लगी थी। सुबह से ही घर आ जाती। रूप-सा निखरा रहती। कानपुर की लड़कियों पर बातें करते करते रुकती। आगे पढ़ाई लिखाई का जाल बिछा वह हँसती खिलखिलाती, कहती 'मानाजी मैं तो आपके साथ शादी करूँगी।' तब उसकी बात सोच लेने के बाद बड़ी हँसी आती थी। आज सोचता हूँ, यदि सच ही शीला जिन्दगी में आती तो क्या होता। आनन्दी ने एक दिन सुना सुनाया था कि शीला हैजे से मर गई।

'शीला ?' बोला था मैं।

सामने आनन्दी तब खूब जी भर फूट फूट रोई थी। शीला मन से उलझती काढ़ती लगी थी खूब, तब शीला को हलके समझ लेने को जी चाहता था। होली के दिन आनन्दी ने उसे खूब सिखाया पढ़ाया था। शाम को पैन्ट पहिना ज़रा टहलने निकला तो पाया उसकी जेबें कटी थीं। पीछे पता चला था कि यह शीला की कारस्तानी थी।

पर आनन्दी खड़ी की खड़ी रही। जैसे भीतर आने की सामर्थ्य वह हारी है। एक बार मुझे देखा। बाहर भी आँखें गई होंगी तब। सावधानी बरतती आनन्दी चलने को हुई। मैंने रास्ता रोक लिया। एक बार फिर आनन्दी की बड़ी बड़ी आँखें ऊपर उठीं। लाल लाल पाया था तब उन्हें मैंने। वे आँखें झुकाती लगीं 'हट जाओ, दिनेश बाबू! रास्ता छोड़ दो!' और क्या तुम्हें नहीं लगता कि मैं परवश हूँ। तुमने देवर का रिश्ता क्यों जोड़ा? जोड़ा क्यों? जान लो कि मैं !

तब उसका मुँह लज्जा से गीला होता भर पाया था मैंने। आनन्दी ऐसी खड़ी है। कि अब चाहे भाग कर अन्दर घुस जाय। फिर भी पत्थर की मूर्ति की भाँति

अचल है वह। साड़ी उसकी सिर से उतर कर नीचे आ गई है। और उसे याद नहीं कि उसको एक पतला लट बालों को उड़ कर मुँह पर फैल गई है।

मैं समझाते हुये बोला—"आनन्दी! हमारे आफिस में छुट्टी नहीं हुआ करती। वहाँ के इन्सान के लिये होली कोई खास महत्व भी नहीं रखता। दिन भर खटर खटर, खट खट मशीनों के पास कपड़ों की लम्बी-लम्बी साड़ियों की हलकी-गहरी किनारियों पर मन ज़रा रुकता है। वहाँ एक भारी अँधेरा तब फैलता लगता है। जैसे मनुष्य केवल अकेला ही आया है। तब अकेले ही उसे झेलना पड़ेगा सब कुछ।"

आनन्दी कुछ न बोली। न बोलना था उसे। जैसे मेरा बात समझने लायक समय वह खो बैठी थी। समझने की चेष्टा भी न की उसने। इधर उधर देख बोली—"आज तो रुकना ही पड़ेगा। मेरा भी तो कुछ अधिकार है।" कहते-कहते आनन्दी ज़रा रुकी। अपनी गलती जैसे अब पकड़ी हो उसने।

अधिकार की बात तब मन से समझ लेने में बड़ी दिक्कत न पड़ी थी। आनन्दी ने कब अधिकार जमाया है। किसी पर! पिछले दिनों उसकी बात से हटने में सामर्थ्य हारा हूँ। साथ ही आगे एक स्वप्न-सी जब से आनन्दी को जाना है, उसकी बात लिये चला हूँ। जब एक बार मन खिला, आनन्दी को आँखों में साथ साथ कर लेने का वचन दिया था तब से आज तक कहीं रुका नहीं। कहा मैंने—'आनन्दी भाभी!"

पर आनन्दी कुछ बोली न था।

आँखें उसकी भर आई थीं। यह मैंने भाँपा था। और आश्चर्य में पाया मैंने कि एक बार आनन्दी ज़िद पर तुली, बोला थी—"वाह! कोई ऐसे ही रहता है होली के दिन।"

फिर दोपहर को तब आनन्दी रंग से सराबोर होने पर भी कहाँ चुप रह सकी थी। आनन्दी ज़रूर आँखों को तब बड़ा सुन्दर लगा थी। बरामदा पार कर बाहर आई, मुझे देख कुछ झिझकी, फिर बोली वह—"देवर जी!"

आगे आनन्दी कुछ न कह सकी थी। आनन्दी के सामने अपने को असहाय मर पाया था मैंने। मस्तक झुका श्रद्धा से आनन्दी बहुत निकट आ गई थी तब। उस कोमल नारी के गुदगुदे स्पर्श को याद कर लेने में आज अधिक कुछ दिक्कत नहीं पड़ती।

दो दिन बाद मैं चला आया। पिछले दिनों बहिन ने लिखा था—

'प्रिय दिनेश!

तुम्हारे चले जाने के बाद तुम्हारे बड़प्पन के भाई साहब ने डाल दिया दुनिया भर बदला, होना भय चले के दिन बहुत बुरा लगा रहा था। तब कामन्दा के घर के कुछ। एक अबोध शिशु का आँसू टूट-टूट कर रोई भर थी। तुम कब तक आओगे। लिखना।

तुम्हारी—प्रभा।

पुनश्च—एक चिट्ठी कामन्दा को भी साथ डाल रही हूँ। पढ़ कर फाड़ना अच्छा।

और कामन्दो ने लिखा था—

'तुम चला करना। सब बात रूप में नहीं समझना। कलम पढ़ाना में बात एक सपना था पास में रह जाता है। पता था, दीदी का दुख क्यों है। रोज़-रोज़ इन्दिरा में उस तुम्हारा चलो हम लोग को सब करता था। आज दीदी के साथ याद कर रोना आता है। तुम्हारे भाई साहब के विषय में क्या कहूँ? यह तो हुए हैं। ज़रा ज़रा-सी बात पर लड़ते हैं। कहते हैं, मैं लापता हो जाऊँगा। अब तुम आओगे तो हाथ सब बताऊँगा। बस,

तुम्हारा—

कामन्दी।'

याद होती है। कामन्दा की याद सुबह से ही आ रही है। और आशा? वह तो एकदम निकट है। चाहता हूँ वह दो पल के लिये हट जाये। पर आशा बाहर साड़ी पहिने सामने ही झूमता-सा लगता है और कहता माँ—मामा! मैं हूँ।

एकाकी याद

उस रात को चमेली जब छत पर गई, तो उसने देखा ओसारा खाली पड़ा था। उसकी भली भली याद आई। जैसे वह हँस खेल कर उसे सुना रहा है कि ओ चमेली, मैं पराया हूँ। तुम्हें देख कर आँखों में कर लेता हूँ। जी नहीं भरता है। तुमसे घुल मिल भी नहीं सकता हूँ। और तुम तो परिचित मूर्ति हो। तुम से कुछ छिपा नहीं पाता हूँ, फिर भी तो निकटत्व की छाया सी मुझे बाँध रही है। आँखें दूर पर उलझ गईं, बड़ा सा बड़ का वृक्ष उस सूनेपन में सहरा उठा। जैसे वह भी परदेशी के हठात् चले जाने पर कुछ कहना चाहता हो। जल की दूर तक फैली हुई लहरों में उसने उसे खोजना चाहा। पास के खँडहर में उसने उसके पाने की चेष्टा की। ऊपर देखा, काली अमावस्या की रात। नीचे देखा, ओसारा भायँ भायँ कर रहा था।

अंधकार फैल रहा था। उसके जी में आया कि एक बार वह नीचे उतर कर परदेशी का पता लगाये और बड़ के नीचे की तिल तिल ज़मीन छान डाले।

उसने कई रोज़ तक उसे गज के पास वाली पत्थर की सीढ़ी पर एक दरी बिछा कर सोते हुये पड़ा था। यह बहुत रात तक गर्मी के कारण पंखा झला करता, और फिर अपनी उलझी हुई भूलों को सुलझाते हुये कुछ धीरे से गुनगुना कर सो जाता। रात के उस सन्नाटे में गीत की ध्वनि चारों ओर फैल जाती। परदेशी उसे श्वासों में छिपाने का प्रयत्न करता। आकाश में बादल घिर आते। हवा के झोंके उन्हें उड़ा उड़ा कर एक दूसरी ही दुनिया में ले जाते, तब परदेशी अपनी दरी समेट, सीढ़ी पर से उठ कर बड़ के वृक्ष के नीचे आ जाता। मानों उसरे उदासी से भरे हुये गीतों का यही ध्येय हो। जैसे यह सब उसे किसी की बोली से धोखा भर चाहता हो।

चमेली छत पर खड़ी थी। उसकी अभिलाषायें नीचे ओसारे में चक्कर काट रही थीं। बड़ी-बड़ी आँखों से परदेशी को समझने के लिये उस अँधेरे में [illegible] गई थी। वह उसके समीप पहुँचना चाहती था, पर न जाने क्यों [illegible] ...ती। दिनों के [illegible] खोजना चाहती थी कि याद

आते वह आता था तभी बातों ही बातों में वह कुछ जी की कर लेना चाहता था। जैसे मन की परतों में वह उतर कर सुझाना चाहता हो कि चमेली आज यों ही ऐरे हो गई। मैं तो आ जाया करता हूँ! और मेरा कौन भरोसा!

चमेली कुछ झिझक गई! उसके सामने एक बार परदेशी की सरल हँसी में छिपी हुई भावनायें घूम गईं। उसका भरा भरा भला चेहरा पतले पतले ओंठ और वह । चमेली सोचने लगी, वह तो पथिक है चलता ही रहेगा। जैसे यहाँ तक आया है वैसे ही यहाँ से भी चलता बनेगा। कितना सरल है वह! उस दिन जब उसने उसे पहले पहल देखा था, तो वह बड़ के नीचे रोटी टोंक रहा था। दहकते हुये कोयले की लाल-लाल रोशनी में उसने उसे समझने की चेष्टा की थी। उसकी भरी भरी आँखों ने उसे रुलाया था। परदेशी की रहस्यमयी आँखों ने उसके दिल में एक गुदगुदी की दुनिया बसा दी थी। लेकिन आज वह अभी तक आया क्यों नहीं? वह कुछ भर-सी गई। उसके विचारों में किसी ने अपनी मुस्कान भर दी थी। उसके हृदय की उठती हुई मस्ती को कोई घर कर बैठ गया था।

चमेली की सुकुमार लाली ने अपनी दो चार हसरतभरी पँखुरियाँ इधर उधर फैला दी थीं, और न पृथ्वी पर सोने से पहले अपने काल्पनिक देवता से मिलभेंट कर कुछ कह सुन लेना चाहती थी। वह बरबस बहुत आगे बढ़ गई थी। अपनी सारी चाहों को बहुत पीछे छोड़ कर अपनी अधूरी स्मृतियों को सुला कर। उस रात को उसे बड़ी देर तक नींद न आई। उसकी अलसाई हुई आँखों में कोई मुस्करा कर कह रहा था कि चमेली! देखो मैं परदेशी हूँ। मुझे भला बुरा नहीं छू गया। मैंने भी प्यार करना सीखा है। मेरे दिल में भी एक भीगा हुआ कोना है, उसमें भी 'कुछ' है। और ओ चमेली, मैं कहाँ तक अपने को सिरजूँ। आखिर मैं भी आदमी हूँ, बस! वह उससे छू गई। लगा, परदेशी है।

× × ×

चमेली अब काफी बड़ी है। उसकी खिली खिली आँखों से भी उसका यह बचपन आँका जा सकता है। उसमें अब चपलता नहीं है, और भी है उसमें 'कुछ'। पर वह उसे किसी को बताती नहीं, दिखाती नहीं। जैसे वह उसे छिपा कर दिल में रख लेना चाहती हो। जैसे वह उसे खोल कर एक अनबूझे पाप में रो धो कर समा जाने को सोच जाती हो। पर फिर भी वह उसे सँवार नहीं पाती है। अपनी रीती इच्छाओं में उफनी हुई जल की लहर की भाँति स्वच्छ अन्तर्मन को वह लाख लाख समेटने पर भी सिरज नहीं पाती।

दिन काम-काम में चला जाता।

दद्दा के आदेश और खाना पकाने में वह उलझी उलझी भी अपने को भूल नहीं पाता है। लगता है, जैसे यह सब कुछ बहुत पुराना हो चला है। और उसने १६ साल तक यही तो किया है। वह अपने में किसी की गीली-गीली सहानुभूति देखना चाहता है। उसकी 'चाह' है कि कोई उससे गीली लकड़ियों के न जलने पर भीगी आँखों को पोंछ कर कहे कि चमेली री, मत बना खाना। क्या खाना थोड़े ही देना है, बाज़ार से पूड़ी ला दूँगा। और वह मरी मरी सी उठ कर चूल्हे में पानी डाल दे।

दिन ढलता, रात आती।

फिर वही काम।

और उससे निपट कर भी तो उसे सुख नहीं। अकेली है, सारा काम कर चुकने पर भी तो स्वतन्त्र नहीं है। उसके पड़ोस में चहल पहल है। पर वह वहाँ नहीं जा सकती है। माँ ने कहा था—'चमेली, किशोर भला नहीं है। तू वहाँ मत जाया कर।" घर की महरी ने भी धीरे से बड़बड़ा कहा था—"चमेली को मत जाने दिया करो। अब काफी सयानी हो गई।"

इन्हीं सारी बातों से उसका जीवन बना है। उसमें चैन नहीं, एक प्यास है, सुख नहीं, पर भूख है। वह इसे खूब समझती है। शाम को वह रोज़ छत पर जाती है। धूप ढल गई, सन्नाटा चढ़ गया। वह तो अन्धकार भी चढ़ आया। पर वह उठी नहीं। खाना उसे बनाना नहीं था। दीदी ने खाने से इनकार कर दिया था। कमरे के अन्दर की खोली हुई धोती भी जल्दी में वैसी ही पड़ी थी।

आँगन में मैना टँगी ही रह गई।

और जब अध काला बिलाव मोटा बीठा समझ कर तेल का कटोरा लुढ़का गया, तब कहीं छत की मुँडेर पर बैठी, उत्सुक आँखें, किनारे के बड़ के पेड़ पर लगाये टिकी चमेली उठी। उस रात को सीढ़ियों पर से पैर फिसलते फिसलते बचा। रास्ते में वह दीवार से टकरा गई और वह अन्दर से बाहर तक काँप गई।

आज चमेली ने बड़ी मुश्किल से दिया जला पाया। माचिस की तीलियाँ बुझ बुझ जाती थीं। और तभी उसने देखा कि उसकी धोती का छोर गीला था।

बहुत-बहुत-सी बातों ने रुलाया था।

उस रात उसे नींद न आई। रात उलझी-उलझी सी चली गई। दूसरे सुबह उसने देखा, तो वही परदेसी कुछ भरा-भरा-सा अपनी सारी इच्छाओं को समेटे हुये चुपचाप गच के पासवाली खाट पर लेटा है, उसके भी मन है, कुछ सोची हुई बातें भी शायद हों, जिसमें वह कल्पना की डोरी से बँधा बँधा भी मुक्त है। उस 'एक' में

वह सीमित रहती है न। वह तो विश्व का सूना आकार है न! और वह! उसने सूनापन रचा है। समझा है? पर उसकी मुस्कराहट कहीं दूर का अंजोर सा तो नहीं है, जो बहुत अच्छा हो सपना जैसा रंग छोड़ कर छिन्न भिन्न मिट गई। इसके तो कहीं वह भूला सा नहीं हो रहा है।

अभी हुई मुस्कान को दबाते हुए उसका पहला सवाल रहता है—"आज चिपका बना है क्या कोई अचार या खटाई है आपके यहाँ?"

और यहां तो सवाल है, जिसे सुन कर वह घबराता नहीं, भरता नहीं, थकता भी नहीं। जिसका जवाब मन के लिये उसका मुँह बन्द हो जाता है। जिसको सुन कर वह चाहता है कि कोई उससे कुछ न पूछे। उसका उगती हुई माँग से वह और उठता है। वह माँग बन्द खेल के बाद से भी आती है। पर उसका मन जैसे कह उठता हो तुम तो परदेसी हो तुम्हारे लिये मैं क्या करूँ। जैसे वह चुपचाप उसे देहरी पर खड़ा देख कर कुछ पटकाना चाहता हो। कोई कह जाता है कि ओ परदेसी ऐसे आओ न इतना रहा काहे का। मैं कहता हूँ। कभी-कभी तुम आया करो, अच्छा। यह सूनापन क्या ऐसे ही रहेगा और मैं क्या अकेली ही रहूँगी, किन्तु न ऐसे हो ?

उसकी आत्मा में आत्मा का भरोसा है। उसका प्यार काफी रात भर कर उसके मन के आँगन में उतर चुका है कि जो वह करेगा वही होगा।

और वह अपने को विरत कर लौट नहीं जाता है। वह वहीं खड़ा है। आज उसे उसकी इच्छाओं का निगलने में सुख मिल रहा है। उसे भी कुछ हो गया है। वह भी चमेली का पढ़ने की चिन्ता में है। उसे सुख है कि उसका मन आज किसी खोई बात को ले कर उसके सामने अपने यौवन का ज़ोर दम मुस्करा रहा है, वह सिर का पल्ला सँभाले उसकी सारी बातों का उत्तर देने की ताक में है। उसका एक दूसरा भी मन है, जो इन पर उसे हँसते-खेलते देख कर मचल उठता है जो उसकी सारी बातों को छिपा लेना भर चाहता है और जिसका भारीपन उसकी सरल सज्जा के सामने अपना सिर झुका लेता है। उसे याद है कि अभी उसी दिन तो उसका हाथ अचार तोलते हुये हिल गया था। उस दिन वह बड़ी मुश्किल से अपने को सँभाल सका था। और यह उसका मन ही तो है, जो आज कुछ समझ गया है।

यह मन किसी का रचा नहीं करता है। वह उसे ठुकराये कैसे? वह इस दुःख में कैसे सुखी रह सकेगा?

थोड़ी देर तक वह चुप रहा फिर बोला—'चमेली! यह भागा-भागा कब तक! मैं भी अकेला हूँ। किसी की भोली भाली छाया को पहचानना चाहता हूँ। उसी में

मिल कर मैं सुखी हो सकूँगा। मैं कुछ भूल जाऊँगा, मेरी सारी प्यास उसी में रम जायगी। तुम्हारा भी कोई नहीं है। इस अलसाये हुये मासिम को ले कर क्या करोगी? तुम रह भी नहीं सकोगी। और अपनी ओर तो देखो, क्या सदा 'एक' म कसी रहोगी, बँधी रहोगी। यह दिन भी चले जायँगे।

"मकान छोड़ने को मैं नहीं कहता। लेकिन तुम यहाँ रहोगी कैसे? तुम मेरे घर चलना। रोटी बनाना, चैन से रहना। उम्र के तीस साल ऐसे बुरे-बुरे बीत जाने पर आज यह जी चाहता है कि किसी के दर्द में अपना खून जम जाने दूँ। पत्थर की भाँति जम जाने दूँ। उसमें फिर से मिल कर घुल जाऊँ!" वह फिर बोला—"अपनी सारी उम्मीदें चमेली, तुम्हारी आँखों की तेज़ी के सामने बिछा दूँ और इसी तरह गलता-गलता गल जाऊँ। और मुझे यह मिले कि मैं परदेशी था! पराये के पीछे जलता जलता जल गया। आज न जाने क्या मुझे हो गया है! उसमें तुम्हारी ही रूप तो नहीं भरा है! मैं दिल के अँधेरे में तुमसे कुछ कह-सुन कर हलका भर होना चाहता हूँ, कई दिनों की दबी हुई बातें तुम से चुपके से कह डालने को जी होता है। चमेली, चमेली, ओ चमेली! तुम्हें मेरी कसम है, तुम मुझे नहीं समझ सकी हो। 'हाँ' भर, कह दो। सच, मेरे मन में तुम्हारे लिये कोई बिगाड़ नहीं है।"

और चमेली न बोली!

उस उसके उत्तर में न जाने क्या हो गया था उसने धीरे से अपना सिर घुमा लिया था। जैसे किसी गहरी सुधा के बोझ को उसका सिर अब अधिक देर तक न उठा सकेगा। आख़िर उसने सारा सामान बाँधा बूँधा पर ठीक समय पर वह न आया।

दिन निकला। ऊपर चढ़ा और दीवालों के उस पार भी जा पहुँचा। चारपाई पर दरी में लिपटी हुई चीज़ें धरी थीं। अन्दर का सामान उखड़ा पुखड़ा पड़ा था।

पर वह न आया!

चमेली ने उसकी प्रतीक्षा में आँखें बिछा दीं। मन खोल दिया। रात आ गई, पर वह आया नहीं। उस रात को चमेली नींद भर सोई नहीं। दीदी के पूछने पर भी वह रोती ही रही।

द्वार पर आ कर 'बाबा' शाम की भीख माँग रहा था। वह भागी-भागी बाहर आई, देखा, तो परदेशी झोली लिये खड़ा था।

वह काँप गई। फिर बोली—"बाबा! मेरी मुराद!"

"लेकिन, मैं तो परदेशी हूँ परदेशी, चमेली।"

"परदेशी! तुम बड़े अनजान हो! सारा सामान ठीक कर लिया है। अब

"लेकिन मैं कह जो रहा हूँ कि मैं परदेसी हूँ !"

"हाँ ! तुम परदेसी हो यह ठीक ही है। लेकिन तुम जा रहे हो। आज मेरे कुछ आराम कर लो। और मैं क्या ऐसी ही रहूँगी ?'

"पर, चमेली ! मुझे बहुत दूर जाना है। मैं अब तुम्हारी छाया सँभाल नहीं सकूँगा। सच, मुझे धोखा न दो। मैं तुम्हारा बोझ न उठा सकूँगा। वह भारी है और मैं कमज़ोर हूँ।

'तो क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि घर चलना।"

"हाँ कहा था पर अभी उसका समय नहीं आया है चमेली। अवसर आने पर मैं खुद आ जाऊँगा। चमेली, चमेली ! मुझे क्षमा करना !"

'तो कब ?'

'एक चौथे साल।

परदेसी चला गया। चमेली मूर्ति सी खड़ी देखती रही। जैसे वह कुछ समझ गई हो—नारीत्व का विभुता का एक सिरा-सा।

शाम को उसी पोखरे का गाछ पर कभी कभी चमेली आ कर सोचने लगती है कि वह परदेसी है पर उसकी भूरी-भूरी आँखें हँसता हुआ चेहरा और सच ही वह फिर आयेगा। उसका हृदय घूम जाता है। जब रात का अँधेरा चारों ओर फैला काँप उठता है, तब वह चुपके से उठ कर उसी पेड़ के नीचे आ जाती है। यही उसका नियम है। सारी लालसाओं को सँवारे चमेली समय के निरखने की चेष्टा करती है। बहुधा वह अपने को भी भारी लगता है। मानो उसके प्राणों में प्रलय हो रहा हो। बहुत दिनों तक वह ऐसी ही रही। सुखी रही, या दुखी, कौन जाने ?

वह फिर आया या नहीं ? यह नहीं कहा जा सकता। आज भी उसके दिल में वह घुमी हुई है 'एकाकी याद' !

त्याग-पत्र

अब प्रमिला सोचती है कि प्रशान्त में उसका मन ज़रूर है। एक सांसारिक दायरे में घिरी हुई वह प्रशान्त युवक को कैसे सहे? अपनी गुत्थी वह बनाये और बिगाड़े भी, पर प्रशान्त को उसमें वह क्यों घसीटे। कभी कभी मन में वह ऊब भी जाती है। प्रशान्त का एक घिरा हुआ अपना मन है। वह मन किसी को छूता नहीं है, और उलझनों ही उलझनों में पास से रूठ भर जाता है। वह इसे अपनी गुरुता मान तनिक ठहर जाना चाहती है। पर रुक नहीं पाती। रुक कर अपने उत्तरदायित्व को कैसे निभा सकेगी।

प्रमिला उसकी भाभी है। वह नारीत्व में छिपी प्रमिला इस पुरुष प्रशान्त के जी से मट चुकी है। बातों-बातों में उसे लगा है कि वह पराई नहीं रह गई है। आफिस से छुट, बाइसिकिल पर बैठ जब प्रशान्त शाम को घर चल देता है, तब दिन भर की मरी क्लो प्रमिला शाम की ओट में आ, सब काम छोड़, ज़रा मुँह हाथ धो, अपने को पा, दरवाज़े पर टिक जाती है। और प्रशान्त की गहराई, उसका भार कि वह उसे कहाँ तक देखे आँखें भरती नहीं। एक रेखा सी, मूक हँसी में सीमित प्रशान्त वह उससे अलग होने की बात पर रुके कैसे?

भाभी की मूक नम्रता में खो उसने कहा था—"प्रमिला, मैं तुम में अपनत्व पाता हूँ। देखो, मुझ अपनी नाराज़गी में मत खेना, अच्छा!"

और प्रमिला ने चाहा कि उस खड़े हुये युवक से कहे कि प्रशान्त, मेरा घर मेरे पास नहीं है। जो है भी वह तुम्हारा है, और जो तुम्हारा नहीं है, वह है भी नहीं, सच! फिर ऊपरी मन से तुम्हें अलग क्या करूँ। स्वामी का तो एक नाम भर है और अब जैसे उसने कोई बात पकड़ ली हो। धीरे-से बोली भी—"प्रशान्त!"

और प्रशान्त ने आते हुये सुना प्रमिला बुला रही है। उस सुख को वह कहाँ छिपा कर रख ले। जो कुछ है, वह प्रमिला है, और प्रमिला से बाहर जो है, वह उसका है भी नहीं। विचारों में कुछ बढ़ा तो प्रमिला आती सी लगी। गुलाबी ज़रा की साड़ी में लिपटी हुई। प्रमिला को वह क्या कह दे! और प्रमिला ने जैसे कुछ कहा ही नहीं, और न सुना ही कि चाय की तश्तरी पर हाथ रुका। प्रमिला

अपने साथ 'सर' लाई है। और उसने हाथ का अखबार रख उभरी हुई आँख में देखा कि प्रमिला भाभी की हँसी में वह रुच गया है। उस नई भाभी की भूख को वह भाप कैसे ? चाय पी लिये; पर भाभी को क्यों कष्ट लगे। उस कष्ट का वह सगा भी क्या दे। जो सपना उसने देखा है, वह उसका है नहीं, और सगा से हीन वह उसे क्या माने ? तभी भाँप प्रमिला ने प्याला से मुँह निकाल ज़रा झिझक, रुक, हँस कर कहा—"तुम्हारी बात मुझे लगती है। साथ हो मैंने जाना है कि भाभी का रिश्ता निभाना एक ज़रूरत है।"

और प्रशान्त से वह चाय नहीं पी गई। प्रमिला कुछ और आगे बढ़ी या उसे लगा जैसे उस समय पा, चाय का प्याला उठा, कुछ भावुक हो उसने प्रमिला के ओठों से लगा दिया। उसकी भाभी प्रमिला कुछ डरी नहीं, झिझकी भी नहीं। हाँ, ज़रा अपनी सत्ता से कुछ थोड़ा-सा हँस, धीरे से उसे गले के नीचे मुँह चिपका कर उतार भर गई।

और उसने फिर सुना—'प्रशान्त!' वह उसका क्या उत्तर दे। उम्र घटे से नाम का यह बड़ा-सा युवक जवाब भी क्या दे ? नाम उसका छोटा ज़रूर है, पर उस घटे से नाम में भराव अधिक है।

प्रशान्त सोचता है—'प्रमिला में केवल भाभीपन ही नहीं है, बल्कि उससे आगे भी कुछ है।' जैसे उसका मन कहना चाहता हो कि प्रमिला, मैं क्या उत्तर दूँ। नाम मेरा ज़रूर है, पर मैं नाम का भूखा नहीं हूँ। तुम्हारी दुनिया में क्या ऐसा ही होता है। प्रशान्त बोले क्या ? वह बेबस है। और क्या प्रमिला भारी इस छोटेपन को पा नहीं पाती है। भाभी सामने खड़ी थी। आँखें अपनी हार माने क्यों ?

प्रमिला सोचता रहा। उसने उसे पुकारा; प्रशान्त कुछ रुका भी। फिर भी बेबोझ कुछ झिझका क्यों ? यह रुका-रुकी उसे सुहाती नहीं है। वह बुलाये और प्रशान्त रुके नहीं। यह क्या प्रमिला इस बन्धन में ले सकेगा ? उस छोटे से काल में प्रशान्त को लगा था, मानो वह भाभी इसे दूर न कर सारा सुख औंट ज़िन्दगी में निभ सकेगी। बात बदलने के विचार से वह बोली था—"कल ज़रा आफिस से जल्द आना।"

जल्द आना, यह जैसे प्रशान्त से बाहर की बात है। काम वह करे, उसमें डूबे भी। फिर प्रमिला को वह अपना दुःख क्यों दे ? आखिर का मन कठिन है। और अब प्रशान्त को स्वयं हुये लगा, जैसे उसका भार पूरा नहीं उतरा है। मन की सिसक को वह छिपाये क्यों, जैसे यह युवक खुल कर इस सुन्दर नारी में मिल जाना चाहता

हो। और प्रमिला ने आगे कहा था—"तुम्हारी दावत है, अच्छा ! चार बजे शाम को, देखो, चूकना मत।"

दावत की बात वह सुने, प्रमिला उसे पान लाये और वह क्यों उसे पृथक पृथक रखे। वह भाभी की व्यस्तता में कुछ सुधार लाना चाहता है। कुछ रुका तो मन कहने सा लगा कि भाभी, इतनी जल्दी क्यों, और तुम्हें यह नहीं लगा कि मैं तुम्हारा हूँ। कभी आ कर चाय के सहारे तुम्हें छू लेता पर तुम ! फिर भी प्रशान्त पहले ही आ पहुँचा था। देखा, तो प्रमिला कुछ सुधरी सा सामने मेज़ पर झुकी मिली।

प्रमिला का अपना काम है। एक बँधा हुआ नियम उसे लग गया है। और वह प्रमिला नारी उसे साथ, टोस्टों के बण्डल खोल आज यथा से अधिक भर गई है। लज्जा करना उसे आता नहीं, और प्रशान्त के आगे वह छिपे क्यों ? सामने प्रशान्त को देख वह चौंकी थी और एक हलका साफ़ नमस्ते में व्यावहारिक हार जीत का प्रश्न हटा हुआ उसे मिला था कि वह युवक उसके और भी पास आता जा रहा है।

और यदि ज़िन्दगी यहीं पर रुक एक चाय का घूँट बन समाप्त हो सकती । जैसे उसे गले से उतार भाप में भीग कर ही सारे कर्तव्य को निभाना होता है, जैसे उसका सम्बन्ध केवल बाहर ही का रहा हो। प्रशान्त अब केवल गैर ज़िम्मेदार आदमी ही रह गया है। वह है, और उसस भी दूर निमला।

निमला ? ज़िन्दगी कुछ रुकती सा लगती है। आज से चार साल पहले प्रमिला ने इसी का नाम लिया था। याद कुछ उभर उभर आती है।

आफिस से आ, अपना सूट उतार, ज़रा सुस्ता जब वह अपने कमरे में बैठा था, तो भाभी दूर से हँस, अपने में मचल, पास आई। आँखों में आँख टिकी रह गई। एक ज़रासी खींच प्रमिला बोली—"आज आफिस से कैसे जल्दी आ गये ? निर्मला आई थी, और तुमने तो उसे देखा ही होगा। बड़ी भली लड़की है !"

और परसों निर्मला अपना माँ के साथ घर आई था। तब उसने यह जाना था कि वह उसे अच्छी ज़रूर लगी थी। कल आफिस में उसकी याद आई, तो जी देखने देखने को करने लगा। जरनल और लेजर के बड़े बड़े रजिस्टरों पर आँखें रुकीं ज़रा और रुकीं, तो पढ़ा 'निमला निमला !' वह घबरा गया। घड़ा ने अपनी टन-टन में सुनाया 'निमला ! निर्मला !' और अब प्रशान्त जैसे अधिक रुक न सका। उठा और बाइसिकिल पकड़ कर घर पहुँचा। जहाँ पर निर्मला बैठी था, उसे ध्यान स देखा—जैसे वह भोली निमला अपना रेखा चित्र छोड़ गई हो।

आज प्रशान्त को बहुत ऊब है। जी में एक अभाव का स्थान बन गया है, जिसमें निर्मला नाम की एक नारी अपना अस्तित्व छोड़ कुछ सुस्ता गई है। उसने

चाहा कि भाभी से कुछ बोले, पर बातों में अटक न सका। चुपचाप कुरसी पर बैठ, अखबार खोल उसमें खो गया। दूर से भाभी की छाया बड़ी सफेद मा— नाची नाची और वह निमला की मलिन हँसी में रुक, हँस, खेल कर कुछ ऊपर उठी। तभी प्रशान्त को लगा, जैसे भाभी उसे समझ न पायेगी, और वह एक मूढ़ व्यस्तता में ऐसा ही लगा रहेगा। इतने में निमला हाथ में गँडेरी की तश्तरी ले पास आई। उसे मेज़ पर जमाते बोली—'कुछ खाइयेगा?'

बात कुछ उलझी सी लगी। प्रशान्त अपने से बाहर रहा। कुछ बोला नहीं। सोचा—'प्रमिला भी कैसी भली है और यह निर्मला। बहुत सोच विचार कर बोलती है। ठीक यह, पर इस प्रमिला का जी क्या दुखे। पर निमला नहीं, प्रमिला प्रमिला वह जी से हठ करे पर प्रमिला का कैसे हटाय? जैसे गँडेरियों के टुकड़ों में उसने सब कुछ पा लिया हो। रुक कर जब में भर लीं।

पास बैठी हुई प्रमिला ने सोचा गँडेरियाँ वह चबायेंगे, उसे सजाये भी पर वह प्रशान्त उन्हें न खा जेब में क्यों भर? गँडेरियाँ बनाते बनाते अँगुली जहाँ कट गई, वह छुआ हुआ था और उससे तिलमिला कर वह बोली—'सामने खाने में कुछ बुरा है?'

प्रशान्त उसे कैसे समझाये। मन के कुआँरों में उसे रख लें, यह वह भी चाहता है। जैसे मन कहने-सा लगा कि प्रमिला सामने की बात मुझे लगती नहीं है, जो छू रहा है, इसी से तुम्हें बाहर पा चुका हूँ। फिर निमला की बात सामने आई। साफ़-साफ़ सच सच। पर देखा, एक गँडेरी निकाल मुँह में रख वह चुप रहा।

आज वह सोचता है, निमला उसके घर आई, बैठी भी और कुछ दे भी गई। उसका देय वह रखे कहाँ? पर प्रशान्त ने उसे देखा नहीं। यह सच वह कैसे सहे। प्रमिला की आँखों में पढ़ा जैसे उसने उसे समझ लिया हो।

एक धुँधला पहला सामने आई। यदि निमला जीवन में निभ सकती। कुछ सोच उसने धीरे से कहा था—"हाँ, देखा तो है।"

और प्रमिला कट गई।

बात बढ़ाई नहीं। वह लाज में छिपा रही। ज़रा बीमार हुआ तो निमला फिर आई। आरामकुरसी खींच बैठी, तो प्रमिला ने प्रशान्त की बीमारी का हाल सुनाया। उसका एक रूप आगे आया। प्रशान्त कहने-सा लगा—'निमला निमला!' और निमला ने दूर देखा प्रशान्त लेटा है; चुपचाप बेबसी में गड़ा। और अब निमला अपने को क्या करे? धीरे से प्रमिला को ले प्रशान्त के कमरे में आई।

इस युवक प्रशान्त में आज निमला का जी जम गया है। जी उसका है, पर

लगाव पर उसका लगाव नहीं है। पास लेटे हुये युवक प्रशान्त की भावनाओं का कुछ दूर साक्षा सा बना, फिर मिट भी। जैसे प्रमिला की ओट में वह उसे छू चुका हो।

और प्रशान्त उसे पा कुछ चौंका, दीवार पर टँगे हुये चित्र पर आँखें टिकीं। निर्मला आती सी लगी। हमारी गृहस्थी भी एक चित्र की भाँति है। उसने सोचा, हम बोलते हैं, हँसते भी हैं, और फिर अपना अस्तित्व खो कर जल की लहर की भाँति कुछ दूर-दूर जा मिल, रह जाते हैं। और सोचा निर्मला ने दूर का सहारा पकड़ा है। और प्रमिला नहीं, निर्मला दोनों में वह किससे मनमुटाव करे? निर्मला बड़ा भोली है, सिर्फ चुप खड़ी रहती है। आज भी वैसा है कि प्रमिला ने दवाई का समय जान हाथ बढ़ाया, उसे निर्मला को दे बोली—"तुम दवाई दो मैं आती हूँ"

और निर्मला का सारा उत्साह टूट गया। अभी उसे भाभाजी की ओर से प्रशान्त ने कहा था—"ज़िन्दगी में बदलना पुण्य है और एक-सा रहना पाप।" कह कुछ नहीं सकी। दवाई का फैसला सुन कर, समीप पहुँची, ज़रा सकुचा, लजा, झुक, हँस कर दवाई का गिलास मुँह से सटाया।

एक सुन्दर नारी की कोमलता, निर्मला की कोमलता क्या वह इसी भाँति रहेगा। सामने निर्मला का साकार चित्र देख वह बहक गया। कुकाव का सहारा ले एक सधी हुई उलझन में उसकी आँख उस पर टिकी रह गईं। दवा वह पिये, पर निर्मला को कष्ट रोग क्यों लेंवे। दूर पर निर्मला कहती-सी लगी—प्रशान्त, तुम यहीं रहना, रहना और ऊपना मन! नारी के साथ एक शादी में था, अपने आपको गला देना अच्छा! यही मेरा ध्यान है, अपने से बाहर की पाओगे। कि नारी कला की एक चीज़ है, मुझसे मिलान मत करना। दुख-पीड़ा, वेदना में साथ साथ ही बँट सकेगी। और प्रमिला? कि प्रशान्त ने ज़रा लजा से हट दवा गले के नीचे उतार दी। उसके घूँट से शब्द उठा—'निर्मला, निर्मला!'

दूसरे दिन वह कुछ स्वस्थ हो आया। फिर निर्मला दूर की न रही। उस पास आती नारी को वह पढ़ता गया। उसमें कोई बुरी भावना न देख उसने सोचा कि निर्मला भली ही नहीं है, बल्कि उससे भी आगे बढ़ गई है। ज़रा कुछ और सजग हुआ तो वह प्रमिला भाभी के साथ फिर मिलो। वह मिलो और मीना भी।

और मीना?

मीना उसको बड़ी भली लगती है। जैसे वह अच्छी बिल्ली सब कुछ समझ कर भी चुप रहना चाहती है। जानवर वह है, पर उसकी समझ के आगे प्रशान्त ...

गया है। वह प्रशान्त युवक का रूप समझती है। अपनी बेबोल भाषा में जैसे कहना चाहता हो कि मैं बबोल हूँ, इसा से सब कुछ मत समझो? निर्मला दादी की हूँ, तुम्हारा भी हूँ ' और प्रशान्त मानो यह सब समझ लेता है; मानो इस मुन्ना अपना दुलार बढ़ कौर और? कि वह सूनी सी खिड़की में माता धरी भर पाँव पर प्रशान्त के पैरों पर दुम रख और जाता है।

ज़रा निर्मला और बड़ी, तो मामा न शिष्टाचार में था, गोद पैर चाटे और प्रशान्त जैसे सब कुछ पा लिया हो। प्यार से हाथ पैर पुचकार कर उसे उठाया। उस दिन इसे न जाने कहाँ एक पर था मन माता में मिला। ज़रा और उठाया, तो प्रमिला ने सुनाया कि निर्मला आई है, साथ में शेक्सपियर की 'ट्वेल्थ नाइट' भी समझने लाई है।

प्रशान्त ने मामा का कान दबाते हुए कहा—"जा, अपनी निर्मला दीदी के पास आयगा '

और जैसे मामा ने क्याऊँ कर पूछना चाहा कि जाऊँ, सच, यह तुम कहते हो? सामने निर्मला को आती देख वह एक हुँकार सीख बोला—' आप कैसे भूल पड़ीं इधर?"

और निर्मला जैसे भर गई हो, चुपचाप रही। फिर पढ़ाई की बातें जमीं, और निर्मला जैसे यह सब सुनना नहीं चाहती थी। प्रशान्त मीना को थपथपाते हुये कहता गया—"शेक्सपियर अंग्रेज़ी-साहित्य में बड़ा माना कलाकार हो चुका है। उसकी कला ने विश्व को परखा है और और '

जब चला तो मीना को आवाज़ दी पर वह न उठा। चुपचाप प्रशान्त की गोद में बैठा रहा। हाँ, देखा ज़रूर जाता हुई निर्मला को और प्रशान्त ने कहना चालू रखा—'शेक्सपियर ने नारी हृदय परखा था। उसे अपने में खो तौला था। इसी से उसके 'ट्वेल्फ्थनाइट' में एक मूक युग की नारी का, कोमल नारी की चाहना भरी है। 'नारी हृदय ' यह रुका कि निर्मला ने फिर पुकारा— माना!"

और प्रशान्त ने मीना को ज़ोर से चिपकाते हुये कहा—'किसी को प्यार करना सरल है, पर भूलना मुश्किल। शेक्सपियर ने एक बार कहा था—पुरुष चाहता है कि वह एक बड़ा हिस्सा अपनी ज़िन्दगी का दे पर सफल हो नहीं पाता है। लोग इसे जान कुत्ता पालते हैं, ज़रा मूक वेदना को हटा बिल्ली को भी कि बात कट गई।

"मीना, मीना !" आवाज़ फिर आई।

और अब जैसे मीना रुक न सकेगी। 'ग्याऊँ' कर गर्दन उठाई, उसे रोक वह कहता रहा—'अपनी प्रिय वस्तु से अपने को हटाना एक अप्सरा की बात है। हम कुछ रखते हैं, पर उसके चले जाने पर दुख ही करते हैं !"

कि दूर पर निर्मला हँसी ज़रा सजग। एक छाया-सा वह पास आ बोली—"अच्छा, अब चलती हूँ, माफ़ करना।"

निर्मला पूछती है, वह रोके क्यों। जाना उसे है ही। वह जायगी भी। फिर वह क्यों उसमें कुछ कहे। जैसे वह कहना चाहती हो कि सच, जाऊँ तुम कहते हो जाऊँ। और मीना वह विवशता जान, बोल पड़ी 'ग्याऊँ।' वह जैसे कहने लगी—अभी बैठो, तुम जाओ क्यों, निर्मला दादी मैं भी तो चलूँगी प्रशान्त ने सोचा, क्या वह निर्मला सारी सच जाना चाहती है। फिर मुझसे पूछने क्यों आई है।

आज आफिस में काम करते करते प्रशान्त को लगा, निर्मला की शादी ठीक हो गई है। वह शादी में बँध कर रहना नहीं चाहती है और अब तो वह बीमार है पीला-पीला मुँह। वह दूर पर कहती सी लगी प्रशान्त, प्रशान्त !

वह काँप उठा।

घर पहुँचा तो प्रमिला ने सुनाया—"दूर के रिश्ते से निर्मला मेरी बहिन लगती है इसीलिये मैं ने पूछा था। बड़ी इच्छा थी कि तुम्हें उसे सौंप सकूँ पर परसों उसकी शादी ठीक हो चुकी है।"

'शादी ठीक हो चुकी है।' प्रशान्त रुका। दूर पर निर्मला की हँसी सुन वह चौंका। वह कहती-सी लगी 'प्रशान्त, मैं छोटी हूँ, और तुम बड़े। इतने बड़े कि सोच कर भय लगता है। समाज में भी, उम्र में भी तुम यहीं रहना। विदा !'

कोई एक महीना हुआ, तब निर्मला की चिट्ठी आई, लिखा था—

'प्रिय प्रशान्त,

ज़िन्दगी एक रहस्य है। डरती हूँ कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ ! तुम्हें न पा इस ज़िन्दगी का धुंधला रूप और भी चमक उठा है। मुझे थाइसिस हो गया है। डाक्टरों ने बताया है कि किसी सिनेटोरियम में ले जाओ। इस महीने में यदि आ सको तो चले आना। तुम्हें देखने को जी कर रहा है, अच्छा, शेष कृपा।

तुम्हारी—

साफ आकाश में खिली हुई चाँदनी को देख प्रशान्त का मन एक अज्ञात पीड़ा से भीग जाता है कि यह चाँदनी हँस बिखर कर निर्मला का रूप ले लेती है। वह कहती सी लगता, प्रशान्त मेरी भावनायें मत चूमो। मैं पराई हूँ और यह परायापन का बन्धन मुझे तुम तक नहीं आने देता है। कि वह छाया रूपी निर्मला दूर हो, बस छू, पुलक कर हर प्रमिला में जो उसमें समा भर आता है।

और अब प्रशान्त केवल रुक !

प्रमिला, नहीं निर्मला निर्मला ! जैसे वह चाँदनी कह उठती हो—निर्मला, ओ निर्मला ! और वह चारपाई से भागी प्रमिला में पहुँच, उसे पहचान देख सिसक सिसक कर रो देता है।

जीवन का रहस्य

'बसन्त !' छाया अपने में गुनगुनाई। कुछ भार कहीं हलका लगा। जैसे अवज्ञा मात्र वह कर रही हो कुछ रौशनदाना में डूबी आँखें बिखरती, सरसता उँडेल अपने में ज्यों यहीं रहतीं। उलझी उलझी, काला काला सोइ भर। अन्दर एक धुँधला चित्र। ज़रा साफ़ आयने में लगा, वह चित्र हँसता मुस्कराता लगता कहता—'छाया ! मैं हूँ मैं हूँ !' और बाहर कुछ अलग अलग एक धोखा बड़ा-सा हल्ला। दुनिया की समझदारी में हलका पड़ता। पीड़ा चोट ज्यों कहीं चुप हो होता। दूर-दूर एक भ्रम ! ज़िन्दगी फाका कहाँ था हाँ, उचाट उचाट जी में था कुछ कमी अभाव न नेक। वहीं गुबार मनुष्य के बनाये क़ानून कोर्ट के फैसले की तरह धीरे धीरे फैलते, ज़हर उँडेल आगे आते, समाज के दायरे में सिखाते—

चुप, चुप चुप !

बात अपने में न आती। कुछ कहीं पर छू अलग ही हो रह जाती, दूर दूर, कड़वा कहती।

झूठ, झूठ, झूठ !

झूठ ! अब छाया चौंकी। अपने को पकड़ चाहा कि खूब समझ ले। उत्तरदायित्व की याद आई। उठा, किताब ले स्वामी के निकट पहुँचा। समय काटने लायक थी यह किताब। मन बहलाव वह किये जा रही थी कहाँ ! और चारपाई पर लेटे स्वामी ने देखा—एक धुली हलकी हलकी नारी। लाल साड़ी सफेद सफेद बिन्दियों से लगी। हाथों में हरा चूड़ियाँ—बीच में लाल और आगे फिर हरा, गोल गोल किताब के ऊपर सधी, रुकी। सब, सब। खूब झुकाती लगी। खिली खिली कि छाया ने गढ़ी गढ़ा कहा—"मन नहीं लगता।"

मन ?

स्वामी चौंका। दिमाग़ भर गया। वहाँ रस की निपट डगर-मगर पाई उसने। बाहर दूर-दूर हरे खेत। उनसे लगे गाँव। वह लाल धोती पहिने, ज़रा गन्दी लड़की सिर पर पीतल की कलसी, और सामने टेढ़ी मेढ़ी, साफ़-साफ़ मा[illegible] पर आगे बढ़ती फिर—

खट-पटर ।

इन नैनों के उस पार वह घूमता चलती । गाड़ी आगे बढ़ती । अन्दर डिब्बे की दीवार में छोट-छोट चित्र । उन्हीं में कायदे से सजाई चिट्ठियाँ, रजिस्ट्री, थम्मा, सब सब । सुभाष, एक टपाट । उसी में लगा एक हुक्का । उधार और हुक्के के बाच एक ऐसा परेशाना के पास पास । पलकों आवन में बँधी हलूटी । वहाँ छाया हल्का खगा । बार पकड़ कहा—"घर आयागा ?'

छाया शिथिल हो झुक गई । चाहा, उग्र बह । मैन पो उसी में रह जाय । चुप रहा, फिर बोला— और यार ?"

अपनाव की बात उलझी । फिकर फिकर में किसी को समझाती वह आगे बढ़ी है । और मन में काला काला वह बनकटी कहाँ है । एक पत्थर-सी जमा वह धरी पर है । ज़िन्दगी का मखौल उड़ा अपन को परख, पसार आ चारों ओर उड़ा, तो फिकर हो तो यह है । पूछ समझा हुआ एक अभाव चला । हिम्मत का फ़ैसला लेता । दिन पहले । वह नीले सूट की सफ़ेद धारियाँ मन से खेलती एक उलझा चहकना निठेर यहीं रहती लम्बी-लम्बी । जैसे मन-लुभाव का मोह हो । कुछ कहीं लेश न था, जो समझ लेता । उनके बीच बसन्त ! उसकी पीड़ा, घाव दुःख और दर्द कुछ लोग उसे उठा कर घर ले आये थे । अपना कर्तव्य निभा यह ठीक ऊँची थी । जब सजाग पाया, तो वह बोला था—"छाया, ज़रा पट्टी ढीली कर दो, बड़ा दर्द है ।'

और छाया ने पट्टी खोली, ढीली कर एक गाँठ दे बोला—"बस !"

बसन्त कुछ बोला न था ।

सामने तत्परता में पसरा छाया । नीली साड़ी खूब सजी । बालों में हरा फीता । कमरे में ठीक एक पहाड़ी लड़की सी लगती । खूब हुलस बोला— ज़रा बोतल दे दो, बड़ा गहरा घाव है ।"

मन में सन्नाटा, वहाँ बन्दूकों का धायँ धायँ । दूर-दूर रत पर छिपे कुण्ड फिर धायँ !

वे आगे बढ़ते लाल लाल साफ़ों में और—

धायँ ! धायँ !!

पास में धुआँ उड़ता—सफ़ेद सफ़ेद । ऊँचे उठ कहता—

धोखा धोखा धोखा !

पहाड़ी सन्दूक के पास वह हिन्दुस्तानी टुकड़ी का कमा डर था । पिछली घटना के दो दिन याद आये । एक घाव बना दिल में पसारे । यह घाव कब दद देता कसक कसक । हलके बात उठती— सोका खोका !'

बड़ी रात गये कहीं सुड़सुड़ाहट सेती थी। फिर—
'धायँ!' एक फ़ायर।
'धायँ, धायँ!!' दो फ़ायर।
'धायँ, धायँ, धायँ तीन फ़ायर।
बन्दूक चारों ओर से घिरी पाई उसने। सब समझ गया वह। उसका ठीक से पकड़ा। सब-सब सामने आया ठीक-ठीक।
चट्टानों में छिपी टुकड़ी ज़िन्दगी में हारी।
दस दम, साथ।
आगे, बीस-चास।
पीछे, पाँच पाँच।
सब शान्त में सोये। केवल मन बुझाव करने कराहना-मात्र थी वहाँ। आगे दूर दूर खेतों में वे खो गये।
"सोफ़ी!"
किसी ने कहा था।
वह भोला सरल मुख, घुटने तक फ़्राक, बालों में एक नीला रूमाल, ठीक-ठीक लगी। अन्दर गुदगुदी। वह बाहर रही।
"ज़रा कस कर बाँध दो!"
अपने कर्तव्य को निभा सोफ़ी खड़ा थी। पास उसके था, हलके घाव छू बोली थी—"तुम यू० पी० का है?"
"और तुम?'
बात को न पकड़ सोफ़ी हँस दी थी। फिर बोला—"मैं?"
सोफ़ी की हँसी ज़रा अन्दर आई। वहीं पसरी रही। करवट ले सोचा, यह सोफ़ी भली भली। हँसता हँसती। और यह ज़िन्दा क्यों रहा। अपने को धारा दे, गोली लगी, एक घाव बना, ख़ून बहा, पार चली—सन्-सन् सन्।
और अब वह इस नई सोफ़ी में क्यों उलझ रहा है। विचारों में सोफ़ा उलझी। ज़रा ऊपर घर र र।
पास में हवाई जहाज़।
सोफ़ी चिल्लाई—'भागो, भागो!"
ख़तरे से परिचित थी वह।

पास में धूल। रेत बैठा, एक बम गिरा। मोर्चा खोली, उसने दोनों पैर का ली। दूर पर पोखी धाड़ा रेंग रह रही था। सोफी का पता न था।

छाया का भ्रम आया। पूछता हुआ गांव में वह सोफी को क्यों टटोल रहा है। वह अक्सर न घर आने का इजाजत दे दी थी। पढ़ने में एक दिन पहले सुना था—'एक हिन्दुस्तानी कमाण्डर की जान बचाते समय सोफी ने अपनी जान दे दी।'

वह नारी महँगी लगा।

दूर बन्दूकों के पास उसे देख वह भ्रम में चौंका—"सोफी, सोफी!"

छाया पास आई। बोतल दे वहीं रहा। बोली—"बड़ा गहरा घाव है!"

'गहरा!' बसन्त ने बात दुहराई।

डाक्टर ने भी तो कहा था—'घाव गहरा है। ठीक से रखना।' बात न समझ हँस दिया। छाया मन के निकट चला। पास पास कुछ मुस्कानी। वहीं रहा पौधा पीटता। सोफी से मिलान कर सुलझा। बात उठी, वह छाया और वह सोफी नाम का नपा हुआ फासला, कमरे का सरल नारी छाया में फैलता लगी। उसी में रहा, इधर अन्दर। और बाहर एक काला परदा भ्रम का।

फिर कई दिन वह उसके घर पर रहा था। उसके मित्र की बहिन होने के नाते वह निभ गई दूर। कुछ स्वस्थ हुआ, तो एक दिन गाने का ठहरा।

हरी हरी घास, पास खिले फूल, बहता नाला, छाया अपनी सखियों के साथ थी खूब सजी, खिला खिला।

घास के उस पार बसन्त!

दूर दूर।

साँझ हो चुकी थी। चाँदनी में स्वप्न सा छाया, भागती सखियाँ। सब सब! फुसफुसी-सी बात—"खूब! खूब!!"

और मंच पर बसन्त। देखा, छाया है। बच्चों के-से लापरवाही से कपड़े। साड़ी जरा उलझा। दांतों से बचा। कहने लगी—'बसन्त, बसन्त!'

जब गाना खत्म हुआ तब और भी रात हो गई थी। खेल-खेल में सखियाँ आगे रहीं। पेड़ के पास छाया को देख वह बोला—"छाया!"

छाया चौंकी। बसन्त का देख हँसी थी। खूब निहार बोला—"इतनी रात आप यहाँ, चलो, घर चलें।"

छाया आगे रही पड़ी। वसन्त को आते न देख वह ठिठकी? फिर वहीं से कहा—"आइये चलिये, न!"

वसन्त बैठा रहा, चुप-चुप, गुम सुम। पास के नाले से खेलता, लहरें उठाता। सोचता, ज़िन्दगी कितनी थोड़ी है। उसमें सोफ़ी, बन्दूक की गोली, घाव, छाया और लहरों उसका हाथ छू गया। ज़रा ठंडा लगा, ऊपर भिगोता। जैसे यह सब बातें बचना लिये हों उसमें। बोला—'मन नहीं करता छाया!"

छाया मुस्काती लगी—कुछ कहीं पर।

वापस आ पास से बोला था—'ऐसा भी क्या मैं कहती हूँ चलो।"

फिर हँस, आगे बढ़ उसका हाथ पकड़ घास से भरी पगडंडी पर आई।

छाया साथ साथ। एक हाथ का हलका सहारा। सहारा अपनाव हटा सा लगा। चलते वह बोला था—"छाया, मुझे याद न करना, ज़िन्दगी बन्दूका के सहारे आगे बढ़ता है। इसी में रह चलता नहीं। टिकी टिकी मनुष्यों की लड़ाई में खून बहा, एक घावें, बचा सा वृक्ष यहां मने जाना है। पत्र कभी न लिखना, अच्छा।"

छाया चुप रही थी।

वह सोच रही थी—मनुष्य कितना स्वार्थी है। अपनी बुद्धि के सहारे दूसरे का बल से मनुष्य का खून बहाना उसके लिये कितना सरल है। बोली थी—'वसन्त, यह अपने बस की बात नहीं है।"

तीन दिन पहले के वे काले काले सधे सधे दो अक्षर मेज़ की बनावट से मिले मिले सफ़ेद कागज़ पर, सामने आये। कहती रही—"आप यह न लिखा करें, मेरा नाम और आप।' फिर हँस बोली—'जी में आया था—उसे मिटा दूँ परन्तु।"

और वसन्त का 'मूड' बिगड़ा। एक अपना यहाँ पाई उसने, निरा सूनापन। मन में उलझा।

बात पकड़ बोला—"इतना भी अधिकार आपको अखरता है।"

आगे चुप ही रहा।

घर आ गया था। छाया नमस्ते कर आगे रही।

अगली सुबह उसे जाना था। छाया न कर सकी विदा। मन से दूर-दूर चला, कहीं रुका नहीं।

तीन महीने पहले छाया स्वामी के घर से आई थी। हँसी और, वसन्त में खो हलकी हो वहीं रह गई थी।

मन बहलने-मात्र का साधन था, वह भी गया।

कहता-कहता—"सच, सच, सच !"

छाया कुछ न बोली। परन्तु मन समेट, पुलक में भरी कहती कहती—"बिना आपके मैं कैसे रहूँगी !"

तभी पास में बसन्त को पाया—"पाप !" उसका नीला सूर्य भर गया लोला—सुनाता—'छाया, ओ छाया !'

दूर पर बादल बह रहे थे।

कमरे के पास कुरसी पर बैठा वह सोच रहा था। बसन्त यदि स्वामी हो सकता और स्वामी ?

बड़ी उलझन थी।

तुम हँसी क्यों ?

ज़िन्दगी में जो एक गुबार लिये धुआँ सा है उसमें कमला का मन जमा है। वह ऊपर ऊपर ही सबसे हटा, पैठा, जैसे कुछ हल्का होना चाहती है। जैसे उस धुएँ की कड़वाहट को वह अब सह न सकेगी। धुआँ है पर वह बिखरा नहीं है। सिर्फ पास था, खुशी को समेट, उसके दिल में समाया है, और उसमें अपनी बात था, वह कमला न्यारी चौंक पड़ती है।

आँगन की खानदान की बातें ऊपर छतवाली खिड़की की ओर निहार कर वह सकुचाये क्यों ? एक गुबार कुहरा लिये आया, जो चुपके से सुझा गया कि कमला, यही ज़िन्दगी है, मन का बोझ भी यही। और देखो, इसे सँभाल कर खर्च करना। वह कुछ ही करे, फिर इस मन का मन न जाने क्यों भीग जाता है।

और प्रभात की हँसी उसे अच्छी लगती है, अब अच्छी लगती है, और उसका मन है कि प्रभात सदा उसी का रहे। वह सोचती है मन की पीड़ा, वेदना, दुःख निराशा दे क्या उसे वह अपना न सकेगी ? जो दुःख है, वह प्रभात का है नहीं, और जो सुख है, वह उसका है। उसमें प्रभात के न आने की भी बात है। प्रभात ज़रा समझना अधिक है, कुछ भावुक भी है। फिर वह क्या प्रभात से अपना रास्ता अलग अलग ही बनाने आयेगी। मन को उलझन से हटाया, तो वह सूना हो जाता है, और फिर सारी बातों को आगे कर वह सूनापन जैसे प्रभात के ढीले पायजामे और काले कोट में उसे ढूँढ कर पुकारता हो—प्रभात ! ओ प्रभात !!'

प्रभात अनायास ही उसके सामने आ खड़ा होता है। चुप चुप, बेबोल, अलग अलग, कुछ सकुचाया सा। और तब कमला चाहती है कि वह कुछ कहे—कहे ज़रूर। चाहे वह बोलना उसके लिये हो, या उसकी गृहस्थी के लिये।

पर प्रभात बोलता नहीं है।

कमला को लगता है कि यह प्रभात भी कैसा सूखा जीव है। इधर उधर से आ, ज़रा बाहर बाहर ही चुपचाप दरवाज़ा पकड़ कर खड़ा हो जाता है, जैसे वह खड़ा ही रहेगा, और मेरी भावनायें बूझता नहीं है। बूझे भी तो, खोया सा बन कर टाल, ऊपर-ऊपर का जवाब दे, कोट के फाउण्टेन पेन से खेलता रहता है। कहता है

कि शादी एक जिम्मेदारी है, मनुष्य के रंजन के लिये नारी का निर्माण नहीं हुआ है। आगे बात गम्भीरता से सोचा जाना है।

यह वैज्ञानिक उत्तर उसके लिए काफी नहीं रहता है। वह क्या सुने और क्या नहीं, यह स्वयं उसको समझ में हटा हुआ है। फिर भी उसे दूर कुछ हँसती हँसता-सी वह छिपा छिपा खड़ा से गज़ क्या नहीं पाता है? जो गम्भीरता का बात उसने सोची है, वह ठीक है। शादी एक जिम्मेदारी है, जैसे वह इसमें महसूस है और अब उसका मन उसकी जिम्मेदारी को बाँह हँस-हँस कर ज़िन्दगी काट डालने को हो आता है।

दूर-दूर की वैवाहिक गति में था, उसे सत्यता में निभा उसने पाया है कि वह प्रभात के बहुत समीप से समीप आता जा रहा है। और उसे समीप पा, वह मन ही मन में कह ऐसी प्रभात, देखो अधिक बात शक नहीं है। जिम्मेदारी जो है, वह हमारा भी है। उस अकेले उपाय उठाये जब तुम गई आओ तब मेरे कन्धों पर रख दूना। मैं भाग न पाना, पर चाहता हूँ कि इस जिम्मेदारी पर अपना सारा भार रखा हूँ, और तभी जैसे प्रभात कुछ मूरत सा तुम सुन हँस चुप हो जाता है।

याद प्रेम नहीं होता है।

प्रभात को प्रतीत होता है कि कुछ-कुछ वह बदल रहा है, जैसे इस परिवर्तन में एक कोमल नारी की उदास याचना का तुकरान हँस रही है और वह रहा है कि तुम्हीं पुरुष हो, ऐसे पुरुष पर कौन विश्वास करे? कमला के लिख हुए सुख का देख उसे भ्रम हो जाता है जैसे कि वह भी हुआ भाँति भारी रही होगी, और तब जैसे वह पुष्प सारा खिल खिल, खिलखिलाता-सा उसके सामने था, हँस एक बार चला जाता है, और कहती है कि मेरे साथ रहना। अच्छा, मुझे भूलना मत! कभी उसने मन हो तो कहा था कि मैं तुम्हारे साथ ज़िन्दगी काटूँगा। और पाऊँगा कि यह वचन मेरा ही नहीं तुम्हारा भी है।

उस समय पान लगाते लगाते उसका मन उचाट रहा था।

नहीं नहीं, नहीं!

वह क्या करे?

कमला को क्यों धोखा है। और क्या उसे नहीं मालूम है कि प्रभात कितना दुःखी है। एक बात याद मन से लगाये फिरा करता है।

और फिर कमला को घर के किसी काम में लगा पा उसे शान्ति की याद आ जाता है। थकी थकी वह सामने आ जाती। चुप चुप! कभी वह उसके घर चला गया था। शान्ति दूर के रिश्ते की सो थी, पर सुभा के साथ उसे यो लगता जैसे वह

उसकी ही हो। फिर वह क्यों उसके लिये रुका रहा था ? चला, तो शान्ति बरबस खिली, रोई खूब खिल कर ; जैसे रोना ही उसे आता हो ; धीरे कहना चाहती हो कि यह रोना तुम्हारे बिना बन्द नहीं होगा। और प्रभात उसी दिन वहाँ से चल दिया था।

कमला को लगता है कि प्रभात को किसी की सुध रहती है, पर वह पा नहीं पाती।

फिर एक दिन सन्ध्या को प्रभात आया, बैठा, तो कमला की माँ ने कहा था—"कमला भोला है, कहीं किसी को सौंपना है इसे।"

यह सब प्रभात जानता है, कमला की माँ की इच्छा भी उसी पर है। कभी राह चलते चलते उसने कहा था—"तुम्हें तो मैं पागल बनानेवाली हूँ।" और उसने केवल ज़रा गम्भीर हो, बात को टाल उत्तर दिया था—"मैं तो आप का ही हूँ।" शान्ति को देखा सोचा, यह रोना बुरा नहीं है। चुपचाप साथ-साथ चल दिया था। पर वह उसका उत्तर क्या दे ?

विवाह ?

छि, छि छि !

× × ×

दूर पर शान्ति को हरी साड़ी में झलमला देख वह रुका। वह तभी विदा हो कर गई थी, हाथों में डायमण्ड कट की दो पतली-पतली चूड़ियाँ, पाँवों में पायल, शान्ति खिली खिली लगी। कहने लगी—'यही समाज का विधान है, मुझे बाँधा है—तुम से दूर-दूर देखो नारी की पहचान करो।" और प्रभात ज़रा पास गया, हँसता हँसता। वह बैठी रही, एक कोने में दुबकी दुबकी। फिर उसे देख धीरे से बोली—"मन का न होना ही होता है। स्वामी प्रसन्न हैं। कल बात चीत में उन्होंने ज़ोर से कहा और और तुम !"

"शान्ति !"

वह कहती ही गई।

"जिसे पाया उसे खोया, और 'पाया' की ज़िन्दगी का एक भार है, भार रहेगा।"

"शान्ति !"

उसकी ... थीं।

इ ...

उलाहना

इस दूर तक बहती नदी में जैसे शोभा के नाम की चिट्ठी छिपा, लिख, अब लगता है ज़रूरत निभा, पास पास ला, जिम्मेदारी से लग केवल उत्तरदायित्व में रह जाना पड़ेगा। पिछले दिनों की बात पहचान में आ, लहरों से खेल, व्यथा बिखेर दिल में एक स्थान बना, जैसे सुझाना चाहती हो कि तू चिट्ठी लिखना, मेरे नाम की। पढ़ना भी। अपना ही ज़रूरत सही। कुछ भी हो।

और शोभा की चिट्ठी—

शोभा !

आज कई दिनों से तुझे पत्र लिखने की सोच रहा हूँ। चाहता हूँ कि अपनी यह ज़रा-सी विवशता बाँध, सीमित कर आग बिछ जाऊँ ! और तब हृदय-मात्र से तुम्हारे सहारे जो दुनियादारी का उसूल जमा है, उसे छोटा न करूँ। ठीक वैसा ही उसे निभा। घटनायें कहाँ तक लिखूँ। जिम्मेदारी में लगी तू घर आकर जैसे व्याकुल रहना नहीं चाहता। तू भी क्या है ? जैसे कभी समझ में भी नहीं पड़ती है। अलग अलग अपना रास्ता आखिर बनाये ही रही। वहीं से कहता लगती—मैं हूँ कोई दूसरा कहाँ (?) तब ही याद आती है कि तुझसे कुछ छिपाया नहीं है।

पिछले दिनों वह खिली खिली श्यामा आँखों में आ जम चली थी। तुझे लिखते भी कहाँ समोया था। अभी भी वह वैसी ही है। हँसती, खिल खिलाती वहीं रहती। उससे भिन्न एक जगह बनी थी। वहीं पर उसे निढाल निढाल आगे आया था। तब मन में उसके प्रति सौदा नहीं था। आज श्यामा का अभाव खलता है। मन से सब भगाकर जैसे पूछना चाहती हो कि अलग क्यों और मैं ?

सफेद साड़ी पहने थी।

सारे बालों में क्लिप लगे थे।

बीच में एक छोटी-सी बिंदी।

खूब सुन्दर लगा वह। हँस बोली था—"हम और

"हम-तुम !"

"हाँ !"

आगे वह दिल में मूक ही रही। श्रद्धा का अभाव था कहाँ? मन में एक उलझन था। उसे विलेर चाहा था कि निभ जाऊँ (!) और मुझे भी तो लिखा था कि श्यामा मुझे खूब भली लगती है। तब क्या मालूम था कि हम पृथक ही रहेंगे—श्यामा से बहुत दूर। वहीं रह अपना ज़िन्दगी चला, ज़िम्मेदारी समेट चाहेंगे कि हम यहीं रहें। पास नहीं और श्यामा चिट्ठियाँ लिखना खूब जानती है। उसी के सहारे कह-सुन, ज़रा हलका हो, माफ़त मन पास आ जाती है।

अब उसके स्वामी हैं। उसी में अपने को समूचा पाती जैसे हटरा उससे एक पाप है। उस बार गया था—श्यामा दुबली मिली। मुझे देख हँसी नहीं। पास था, पर नमस्ते कर एक घोर गम्भीर हो चली गई। मन से वह उलझी, पूछा—"श्यामा, क्या है!"

"श्यामा—?" बात हलके दुहराई। ऊपर आने पर आती बोला—"अब क्या बात है—? जैसे कुछ जानते ही नहीं।"

"श्यामा!"

श्यामा नीचे आई। बोली—"किसी दूसरे के पास रखना अच्छा लगता नहीं। मेरी कमज़ोरी को कमज़ोरी कह क्यों बढ़ा रहे हो। कल चार चूड़ियाँ ला देना। माँग का सिन्दूर भी । पराये हाथ क्यों लूँ। और तुम ? स्वामी !"

आगे श्यामा ने चूड़ियाँ उतार फर्श पर फेंका। उनकी खन खन सुनी। तभी सोचा—यह श्यामा कब अपने को समझ सकेगी। फिर माँग का सिन्दूर पोंछ आगे आई। बोली—

"देखो, अभी मुझ में कुछ भी बुराई नहीं है। तुम सब चीज़ें कल लाना। ज़रूर तभी पहिनूँगी अच्छा!"

शाम की ट्रेन से मैं चला आया। आज तक श्यामा की चीज़ें नहीं भेजी हैं। वह भोली नारी आज कोरे कागज़ पर बिखरी मालूम देती है, कहती सी—'मेरी चीज़ें और क्या तुम्हारा यही आदर्श है।'

तभी पास में एक छोटे बच्चे की दर्द भरी हँसी लेखनी। उसका 'प्रिस्क्रिप्शन' सँभाल कर रख लिया है। पड़ोस में माता ने एक को चाची बनाया था। वह चाची भी जी से उलझी हैं। और बच्चा—? उन्हीं का वह छोटा-सा बच्चा बीमार रहा था। देखने गया। वह भोला शिशु—छोटी सी चारपाई पर लेटा असहाय लगा। कहता—'मैं अपनी पीड़ा बता नहीं पाता !' उसकी गोरी गोल सूरत मुँह तक बिखरे

बाल   आँखों के पास एक खोंग-सा दाग   ! और बचा बीमार रहा । दादा से तिलमिला, मुँह खोल चुप हो रहता । कुछ बोलता नहीं । मन भर आया । डाक्टर ने कहा— ताकत का दवा देता हूँ ।" वह पेन पर झुकने वाला डाक्टर !

और उसका   प्रिस्क्रिप्शन !

बच्चा मर चुका था ।

घर आया । प्रिस्क्रिप्शन बन्द कर सोचा—क्या सचमुच वह मर गया । और डाक्टर का ताकत की दवा   !

एक दिन सुना चाची ने खाना नहीं खाया । उसी के पीछे   ! सुन खूब हँसा । आप सोचते हैं, मुझे हँसना नहीं चाहिए था । वह मिला कहाँ और फिर

अब की श्यामा से मिला था । बच्चे की बात कही, तो वह बोली—"आप क्यों दुःख लेते फिरते हैं । आप पुरुष हैं । ऐसा होना आप के लिये ठीक नहीं ।"

मन के निकट तभी कामना कहती सी—"कल आऊँगी अच्छा !"

कामना का मकान बड़ा भारी है । मुझे बहुत अच्छा लगता है । उसी में रह, अपने को सँवार सुमन लगा है । कभी मुझे भी तो कामना के विषय में लिखा था । खूब लिखा है वह ! सब उसे देखते भी नहीं भरता । पहिले ही दिन घुल मिल गई थी । तब ही मैं ने सोचा था—'यह नारी दिल बसा सकेगी । उसकी बड़ी बड़ी आँखें नीली नीली मुझे भाती हैं । दिल में बिखरी एक घर बना वहीं रहती हैं । बाहर क्यों (?) चलते-चलते थोड़ी पीड़ा पी ला है । उसने गहरी गहरी—घनी घनी ! उसी में अपने को थाम ज़रा दु:खी हो हँस लेता चला को है । काफी बड़ी है । रंगी साड़ियों से उलझी उलझी वह लगती है, जैसे कोई अपनी रही हो । नीचे मैली, धीर बोल आँखों में समझ, पसरता लगती है । एक युवक उसके जीवन में आया था । अपना याद रोज वह चला कहता—'कामना ! मेरी   !'

वह युवक अब इलाहाबाद में पढ़ता है । नाम मुझे नहीं बताऊँगा । वहीं कालेज की पुस्तकों से उलझ, काली-काली छपी छापे की लकीरों में कामना को ढूँढ़, समझ लेना चाहता है । जब कामना छोटी थी । बच्चों के से लापरवाह कपड़े पहिनती । घर में दौड़ी-दौड़ी रहती । तब क्या उसे पता था कि वह उसे ठुकरा जिन्दगी में [redacted] कहीं दूर फेंक देगा । अपने अपने को उसमें पाती ।

पिछले दिनों इलाहाबाद गया था । तभी उससे मिला था । कामना की फोटो पर आँखें टिकीं और कुछ ढूँढ लेना चाहती हों । सब समझ वह बोला—' यह भी एक जिन्दगी की सनक है । कभी की यही फोटो ... मैं ... जी मानता ही

और कम्मो न कर सकी थी नहीं। चुप चाप ले, अन्दर जा सन्दूक में बन्द कर दिया।

पिछले दिनों उसी साड़ी के कुछ टुकड़े मकान के पीछे कूड़े में मिले थे। माँ ने सुना तो बुरा भला कहा था।

दिल में एक अँधेरा, दूर पर उदासी से भरा। हटता कहाँ? फिर कामना मिली थी कभी घर पर खिली खिली। मुझे देख उठी, धीरे बोली—"आइये!"

कुछ बीमार रही वह। कमज़ोरी में आह भर। मैं रुका नहीं, चुपचाप बरामदे में साँस ली। वहाँ सफेद सफेद कबूतर लकड़ी के घर से निकलते झाँक, पर बोल उसी में रहते, जैसे बस, उसी तक उनकी पहुँच रही हो। वह काले रंग का बड़ा सा कबूतर आँखें फैलाता, फिर दाने पर पंजा बढ़ा, कहता सा—'मैं कम्मो का सिखाया हूँ। और यह काला-काली मेरा साथिन जानते हो?'

साथिन! सोचा, अब इतने दिनों के बाद क्या दुनिया में रह कर, कामना को इलाहाबाद वाले युवक की याद नहीं आती होगा। तभी जैसे कामना सामने ही गुस्सा हो कहती—छि! मेरा स्वामी है और वह! निकट में पुस्तकों से भरी अलमारी। आगे हरे कवित पीच काल लाल! और आगे कामना को देख ज़रा ठलका। कौन, तो कामना को दीदी से उलझा पाया। पास आया, कामना कुछ छिपाती सी लगी। कहा—"कामना!"

दूर ही वह रही। वहीं से थोड़ा हँस बोली—"कुछ नहीं आप?"
"कामना, मुझे नहीं दिखाओगी?"

सुन, कामना कुछ शिथिल हो दूर ही रही। चोरी पकड़ी गई थी। लजाती शरमाती कुछ बोली नहीं फिर पास आ बोली—"आपसे क्या छिपाऊँ!"

कामना तस्वीर में आई। सफेद साड़ी पहिने थी। सिकुड़न से हीन। उसी में खिला खिला किसी कलाकार की आरम्भ कोरे कागज़ पर हँसता रही—सजीव ही तो! नीचे सात अक्षरों का नाम! इलाहाबाद वाला युवक समीप आया। ढीला ढाला पैन्ट पहिने था, होस्टल में बैठा कहता लगा—मैं ने कभी कम्मो का एक तस्वीर खींची थी। तभी अपना अधिकार बता नीचे अपना नाम लिख, मिटता मिटता मिट गया था। पिछले दिनों यह तस्वीर माँग भेजी थी। सुना था, कम्मो उसे कहीं बाहर भेजने वाली है।' युवक हँस कर कुछ दूर हट गया। अपने में आया, कामना सामने रही। शरमाई-शरमाई—पास हटी। उसका टूटापन आज दिल में कुछ-कुछ करने लगता है। सोचता हूँ—इतना सब कुछ होने पर भी कामना ने अपने को पृथक क्यों रखा?

कुछ दिन बाद सुना था, कामना ने खुद ही विवाह के लिये उससे 'न कर दिया था। कामना आज भी एक पहेली बनी आफिस की फाइलों से खेलती लगती है। वही 'शार्टहैंड' की बेमेल लकीरों में वह छुपती नहीं। पतली, लाल, लकीरें स भी आफिस से दी हुई कापी के एक कोने पर बैठी हँसती हँसती कहती-सी—'तुम काम करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

तुम खूब पहचानती है कामना! घर आ छिपी छिपी वह रही थी एक ओर दीवार का कोन ले। बाहर से आया, सीधे बरामदा पार कर अन्दर पहुँचा। शरमाती पकड़ी गई। पीछे कामना अपनी सुपुर्दगी में जान खूब हँसी थी। अपनी सफलता पर! तब सोचा था—क्या विवाह हो जाने के बाद भी कामना निरी बच्ची ही रहेगी। बच्चों की सी चाल चलता है। हँसती और देखती भी। फिर अन्दर मेज़ से मेरा फोटो उठा बोली था—"अच्छा, यह चोरी क्यों?'

"चोरी।"

"तो फिर किसके लिये खिचवाई है?"

"तेरे !"

कामना जैसे कट गई हो।

कुछ झेंपी सी लगी। रूमाल मुँह पर रख हँसा थी खूब! फिर उसे ब्लाउज़ की जेब में रख पास आ बोली थी—'एक कापी और चाहिये!"

"क्यों?"

'एक हमारी और एक हमारी बहिन की।"

"बहिन!"

तब कहाँ समझा था कि यह नाम कामना ने मुझे ही दिया था। अपना आफ़ित कापी की ओट ले ज़रा अपनत्व लिये मुझे ही ज़िन्दगी में सौंपा था। आज उसको यह बात मन में कचोटा करती है।

तब मैं ने उसका नाम बदल कर छाया कर दिया था। वह दो अक्षर अपने में ऐसी वेदना भरते कि समझ नहीं पाता कि मैं सब कुछ क्यों न हुआ। वह बार बार हृदय भरती, कचोटता, आगे बढ़ती। छाया को बाँध न पाता। खिली-खिली पसरती। फैली वहीं रहती। कहता-कहता यह छाया कौन है? जो प्यार के दिल से चिकोटी काटती हँसती ही रहती है, एक अपनाव आरे। कहीं जाता कहाँ? और वास्तविक प्यार मान कसमस छोड़ लाज से कट यह सुन्दर नारी सब मान लेती। फिर भी लकाना निकलता—"औ, हाँ! मैं सब जानता हूँ, प्यार ने आजन्म किसी और !"

"सच, नहीं कामना!"

फिर कसम का दिमागी बुनियाद पर वह आती। नहीं हार मानती। कहती—
"मुझे आप क्यों मानते हैं ?"

आजकल उसके पास भी स्वामी है। सुना है कालेज का प्रोफेसर है। कहाँ 'इकनामिक्स' और 'लॉजिक' की गहरी धारा में डूब उसे खोज कर लेना चाहता है कि कामों में भी हूँ मुझे धोखा न देना, अच्छा! पर कामना को क्या कभी ठीक-ठीक समझ सकेगा? तभी मेरे कोई कहता—'नहीं, नहीं, नहीं!'

हाँ! तेरी चिट्ठियों का ध्यान । तेरी चिट्ठियाँ भी खूब होती हैं। याद है—शादी के कुछ दिन पहिले की वे चिट्ठियाँ। जैसे उन काली-काली लकीरों में हो बिना नाम का चिट्ठी तुझमें उतारना चाहता थी। उन्हीं की मारफत सब कुछ कहता, तब मुझे कहाँ मालूम था कि तारा इतना कमज़ोर है। तारा का भावना निरी समझा था। पकड़ी भी नहीं! चिट्ठियों को समझ आई थी तुम्हारी—'मैं दूर कहाँ पास ही था, तुम ताना नहीं यहाँ रहना पास हो । घर से मेरी बुराई दूर करती। नहीं भावता। आज तेरा ये चिट्ठियाँ मेरे और तेरे बाद मात्र एक अपनाई याद बची हैं।

यादों का ध्यान ।

तू चुप रही थी। तुम्हारा पकड़ सब समझाता लगा। दूर पर हँसती वह उपेक्षा कहीं भी पाया था। आशा का साथ । मन खोज सब कुछ दे अपने में सिमट जाता था कि तुझे अपनी बात हूँ। आशा थाम उससे लगा तू ! भावना उस बाप सड़ी कर लेना आज एक साधारण बात है।

तब ही इस लम्बी चौड़ी ज़िन्दगी में शोभा की बीच का पल्ला पसराई रही। मन कहता छि! छि! तू

पर तुमसे कुछ छिपाऊँगा नहीं। कभी छिपाया है या आज हो? आशा ने कहा था—शोभा तेरे लिये गृहस्थी छुगायगी। एक खिलौना बन तेरी उस गृहस्थी में आ शोभा दुःख बाँट खूब निभेगी । तू ने भी तो अपनी राय दी थी। तब मेरे सामने समझ ज़रा शरमाई लगी थी। भावुकता में अब बहता हूँ अपने से कोई रास्ता पाता रोकता, सामने रहता और तू ।

(२)

कामना भी खूब है ! जो कहती, करती। बिलकुल सच सच, झूठ हो क्यों? पास बना, उसस सिर नवाना उसे आता नहीं। अपनी गैर-हाज़िरी में ज़िम्मेदारी बिखेरने की आदी रही है। सिर्फ एक दिन घर से आ कर सुना—शोभा की शादी हो गई। शाम को कामना ने सुनाया।

'मनुष्य जो चाहता—वही रह, उसे पाता नहीं।

"कामना ?"

कामना बोली—"चाहा था कि शोभा बहिन को आप में सौंप सेधूँ कि दूर नहीं !"

हरी-लाल बिन्दियों से लगी साड़ी में कामना रही। उसी में एक घर बनाती, वहीं दुबकी, खूब खिली खिली। शोभा का बहाना जुगा मने के पास आई। दूर पर काले-काले बादलों के पास तभी जैसे शोभा अपने स्वामी के पास रही हो। पैसे की गृहस्थी जुगा, उसी में सुख समेट कहने लगी—तू बिना पैसे का वहीं रहना आगे खूब सफेद साड़ी हिलाते हिलाते झिलमिल भाग गई। कहती-कहती छि! छि! तू कहाँ और मैं? सोचा ज़िन्दगी में एक परिवर्तन भर हम दुख को समीप रखते। पहिचानते नहीं। और शोभा क्या सच ही पैसे पर पसरती। स्वप्न, निराशा, दुख, पीड़ा सब ही तो हम पैसे पर टिका आगे चलते हैं। सोचने की सामर्थ्य हारा। ध्यान बैठा। कामना ने कहा—"क्या शोभा दीदी की याद आ रही है?"

शोभा !

मन भर आया। एक दिन यह ही अधर का नाम अपनी हँसी बिखेर दिल में खेला था। खूब समझाता, ज़रा पसर जैसे मूक ही हो वेदना भरने आया। तब मन हलका थोड़ा ही था, जो समझ लेता और अब ? कभी घूम कर वापस आया था। हारा थका, तभी शोभा के बड़े भाई ने चिट्ठी ला कर दी। वह लकीरदार कागज़ का छोटा टुकड़ा एक व्यथा की लकीर खींच दिल में बिखरा। छोटी सी कविता की आठ दस लाइनें—और तभी आधे टुकड़ों पर मानो शोभा था, हँस चिट्ठी खिल गई हो।

" !

मेरी कविता भी क्या खूब है, आपकी पसन्द में रहेगी भी । ज़रा लिखते-लिखते थक जाती हूँ। और अब चाहती हूँ कि अब न लिखूँ। पर अपनी कमा, कुछ भी कहो ज़रूरत हो सही। और मेरे आने से आपने आना क्यों बन्द कर दिया !

तुम्हारी—

शोभा।"

तब शोभा घर से वापस आइ था। अपने पीछे की बातों से ज़रा अलग रही। सुबह सफलता था, मुझे देख साथ, दरवाज़े की ओट हो जैसे बोली हो—'मेरी चप्पू और ?' फिर प्लेट की वह नमकीन कहाँ खाई गई थी। रास्ते में आते सोचा था,

शोभा से अभी सब छिपा है। ज़िन्दगी का सुख-दुख बटोर वह आगे आई। वहीं हँसती रही। खिलखिलाती बसरी। एक ध्यान सुझाती। अपने सौंपने की बात सुन कर तब शोभा ज़रा मन के निकट हँसा समेट बड़े बड़े आँसुओं में रोई था। कहती तुम मुझे दूर करोगे, भाव्वो! और अब मैं रुका। पिछले दिनों कामना की बात याद आई। वह चुप क्यों रहे। दुनियादारी में अपने को गला। केवल खाने को ठहरा थी। बैठे छोल पास था बिखरी। फिर दूर हा से बोला—"आप भी !"

आगे बात शरम में खो गई।

कामना केवल तब हँसी भर थी और बहाना करते देख दुःख में सिकुड़ ज़रा गुस्सा हो बोली थी—"आप को मेरा कसम है जो न खावें।"

कामना भरी पूरी मन के नीचे ठीक ठीक उतरी। उस दिन कामना को अच्छा नहीं लगा कि वह ठहरे। बात चीत का सिलसिला ख़त्म कर चलता बनी।

× × ×

दो महीने के बाद एक उजाली रात! सामने दूध सी चाँदनी खिली हंसी। मैं सोया, भावना समेट कुछ लिखने मात्र हुआ कि कामना ने आ दरवाज़ा खटखटाया। पीछे एक छाया-सी दूसरा नारी को समेट वह आगे रही। फिर बोला— 'इसे सौंपने आई हूँ!'

"कामना!"

"हाँ, मुझे यकीन था कि आप मेरी बात जाने न देंगे। तभी तो यह साहस किया।' आगे बोला—"कल आई है, स्वामी का पता नहीं।" शायद बात आँसुओं में बह गई।

सुन कहा—"कामना मैं समझ न सका !"

और कामना ने आँसू पोंछ कर कहा—"यह शोभा है जिसे एक दिन तुम्हारा !"

"शोभा!"

दुबली पतली, केवल हड्डियों में सीमित और यह शोभा? भावना बाँट बोला—"तो फिर ?"

आगे बड़ी देर तक कामना चुप रहा। अन्त में बोली—"तो फिर मैं अब जाती हूँ।"

यादों ने एक जगह बनाई। यहाँ शोभा की तश्तरियों का उलाहना खत्म हो गया। उसी के निकट शोभा का गोरा-गोरा मुँह कहता लगा—"धोखेबाज़, कलाकार! तू और मेरा स्वामी बिना पैसे का !

हँ के बोला—"कामना! पहले शोभा का उलाहना चुकाना है। फिर सोच कर उत्तर दूँगा, अभी नहीं। मैं ने मिठाई खाई है। कुछ लालच ही लो ।"

मेरी मिठाई!

शोभा कुछ चौंकी। उसने मिठाइयाँ खिलाई हैं। पर स्वामी! और अब बोली—"इतना छोटा उत्तर

मैं बोला—"शोभा सम्भव है मनुष्य के कोई बात न लगती हो। फिर भी उसके दिल में एक गहरी चीज़ रह जाती है, जिसे निकाल, बाहर लाना ही वह चाहता है ।"

शोभा बोली—"उस गहरी चीज़ से डर कर लगता है। गुस्से से उस बात कहने में कभी बड़ा सुख मिला। फिर भी !"

"शोभा!"

आगे फिर शोभा बैठी नहीं। कामना को लेकर उठ पड़ी। फिर बढ़ती छाया समेट, दूर होती होती चली गई।

रात भर शरीर आग सा जलता रहा। हाथ-पैरों में दर्द की भारी अधिकता थी। सुबह एक थाल में मिठाई की तश्तरियाँ लगवा शोभा के घर पहुँचा। नौकर से कहला भेजा, और तब ऊपर कमरे में बैठा शोभा ने सोचा—यह नरेन्द्र भी कैसा है? क्या कभी भी इसको समझ सकूँगी। हल्की बात को भी गहरी बना ज़िन्दगी में समेट लेता है। गुलाबी साड़ी में खिली खिली न वे आई। बोली—"ओह, आप हैं?"

मैंने वैसे ही कहा—"क्षमा, करियेगा। आज ही आपका उलाहना चुका पाया हूँ।"

और शोभा जैसे चौंकती बोली—"उलाहना!"

"हाँ, हाँ, आप की सारी तश्तरियाँ लाया हूँ, इन्हें सँभालिये। मैं हारा! हारा!! हारा!!!"

"मगर आप की तबियत कैसी है? ये आँखें कैसी लाल और कैसा

"शोभा ! यह व्यर्थ की बातें हैं । मिठाई सँवार लो । मैं चल रहा हूँ ।"

शोभा के दिल में भावना पसरी । मेरा जान पहिचान ले वहीं रही । आगे नहीं बढ़ी । ममता, स्नेह, सुख, मिलन सभी तो इस भावना में था । बोली—"कहाँ रख आ सके आप सब ?"

"आप के जाने के बाद सारी किताबें बेच दीं ।"

"और मेरे लिये दी जाने वाली भी ।"

"उनका क्या करता शोभा ! वे भी तो उजाड़ना चुकाना मात्र थीं । वे भी साथ गईं !"

अब शोभा आगे बढ़ी ।

हाथ पकड़ बोली—"ओह ! यो !"

धारे कहती रही—"यह कहिये, आप को बुखार भी है । मैं सोचती थी कि क्या बात है ? आप ने बताया क्यों नहीं ?" कि पीछे ताँगेवाले को चिल्लाता सुन बोला—"और यह ताँगावाला क्यों बुला रहा है !"

"जा तो रहा हूँ । कुछ सामान इसी में धरा है ।"

चौंक शोभा ने प्रश्न किये—"कौन जा रहा है ? घर क्यों जा रहे हो ? अभी क्या है घर में, कहाँ घर है, तुम्हें बुखार क्यों आया ? मेरे उजाड़ने के पीछे किताबें क्यों बेचीं ?"

फिर धीरे से मस्तक छू हाथ पकड़, सँभालते हुये बोली—"चलिये ऊपर लेटिये ! फिर जाइयेगा घर !"

"शोभा, एक बात सुन लो । देखो, अपने स्वामी को ढूँढ़ना । और मिल जाने पर उसी के निकट बिठाना । अच्छा ।"

शोभा बोली जैसे हो—"यह सब फिर कहियेगा, ऊपर चलिये । आप घर क्यों जा रहे हैं ? फिर देखा जायेगा !"

"देखो, शोभा एक बात और इतनी जल्दी नाराज हो बात न लगाना यह तुम्हारा स्वामी है । स्वामी ही रहेगा—!"

आँखें शोभा के झुके चेहरे पर पड़ीं। वह लाज से लाल हो रही थी। आँखें भरी भरी थीं—जैसे अब रोई अब रोई! बोली—"चलिये!" फिर ऊपर सँभालती पहुँची। एक बिस्तरे पर बिठा बोली—"अब सो जाइए। फिर सुनूँगी सब बातें!"

आँखों में शोभा का वह स्नेह घूम गया। फिर धीरे धीरे दिल के नीचे उतरा, मुस्काता लगा—नारी की कोमलता—और शोभा भी तो नारी ही है!

तभी चादर उठा, वह सामने ही हँस, खिली खिली खूब, बोली—"अपने उलाहने तुम्हें भी समेटा है। मिठाई और तश्तरी भी! अब मिठाई मेरी, और मिठाई वाला भी मेरा!"

फिर तश्तरी थाम वह कहती गई—"मेरा उलाहना मिटाइये!"

आगे खूब मुस्कुराती सामने से झिलमिल भाग गई। तभी मैंने सोचा—शोभा का उलाहना!